॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

दशरूपकम्

(सावलोकम्)

'चन्द्रकला' हिन्दीव्याख्योपे

व्याख्याकार—

डाक्टर भोलाशङ्कर व्यास

एम. ए., पी-एच. डी., एल. टी., शास्त्री

अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, संवत् २०१९ वि०

मूल्य : ६-००

पूज्य पितामह

श्री गोवर्धन जी शास्त्री

तथा

गुरुवर

प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय

(भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सनातनधर्म कालेज, कान

की

दिवंगत आत्माओं

को

सादर समर्पित

भक्त्याभिनन्दनम्

काशीनाथप्रपदविहिताव्याजभक्तिप्रपूर्णो,
गौरीमातुःस्तनक्षरगलत्पुण्यपीयूषपुष्टः ।
विद्याधाम प्रवितनशुभाऽऽनन्दिनीसिद्धियुक्तो,
देवः श्रेयो दिशतु सुचिरं कोऽपि गोवर्धनो मे ॥ १ ॥

नमद्युन्दीनाथप्रमुखबहुसामन्तनिकरै-
रलं मौलिस्यूतोन्मुखमणिमयूखैस्तरलितः ।
प्रभां का मातन्वन् नखविधुरराजन् पदयुगे,
तदीयः पौत्रोऽयं नमति पितरं ब्रह्मधिषणम् ॥ २ ॥

कृतो विद्यारम्भः शुकमुखगलत्कृष्णचरिता-
मृतास्वादेनैवाऽल्पवयसि यदङ्के स्थितवता ।
गिरा गीर्वाणानामलभि कृपया यस्य विमला,
तमेषोऽहं वन्देऽपरमिव गुरुं तातपितरम् ॥ ३ ॥

श्रीचन्द्रशेखरकृपानतिमेव लब्ध्वा,
नाट्यं चकार सरसं भरतोऽपि हृद्यम् ।
अस्त्यद्भुतं किमिह तत्कृपयैव सैषा,
व्याख्या कृतास्ति मयका दशरूपकेऽस्मिन् ॥ ४ ॥

सरःस्वतीपूतसरःसु मज्जनोरहर्निशं ज्ञानततिं वितन्वतोः ।
दिवि प्रकामं च सुरत्वमश्नतोस्तयोः पदाब्जे निहिता मया कृतिः ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थप्रणाली को हृदयङ्गम कर सकें। उदाहरणों की व्याख्या में दो शैलियाँ मिलेंगी। कुछ स्थलों पर पद्यों का शाब्दिक अनुवाद ही किया गया है, तो अन्य स्थलों पर पद्यों के भाव को स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करते हुए पद्य की व्याख्या की गई है। यह शैलीभेद विषय को ध्यान में रखकर किया गया है। व्याख्या में पण्डिताऊपन को बचाने की कोशिश की गई है, तथा भाषा में इस दोष को न आने दिया है। किन्तु कुछ स्थलों पर, संस्कृत की शाब्दिक परम्परा का अनुवाद (विशेषरूप से) अक्षरशः स्पष्ट करने के कारण कहीं कहीं अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग हो गया है, किन्तु यह उदाहरणों के अनुवाद में उनके भावों की अभिव्यञ्जना को विशेष स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ है और ऐसे ही स्थलों पर इनका प्रयोग किया गया है।

इस अनुवाद को पण्डित-मण्डली के सम्मुख रखते हुए मैं यह दावा नहीं करता कि यह अनुवाद दोषरहित है। अपनी वस्तु किसे बुरी लगती है। मुझे इसके कई दोष नजर न आये हों। मैं साहित्यशास्त्र के प्रवीण विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि उन दोषों को निर्दिष्ट करने की कृपा करें, जिससे भावी संस्करण में मैं उन्हें हटा सकूँ।

इस अनुवाद को मैं अपने संस्कृत-साहित्य के प्रथम गुरु, अपने पितामह महोपाध्याय पं० गोवर्धन जी शास्त्री की दिवंगत आत्मा को, तथा अपने भारतीय साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के आचार्य प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय एम. ए., शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर की स्वर्गत आत्मा को, श्रद्धाञ्जलि के रूप में भेंट कर रहा हूं।

काशी दीपावली |
सं० २०११ |

भोलाशंकर व्यास

रससृष्टि करने को नाट्य माना है (वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं)। इसी तरह केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भावप्रदर्शनमात्र करने को नृत्य तथा ताल लय के साथ हस्त-पाद सञ्चालन को नृत्त कहा है। वे बताते हैं कि ये तीनों भिन्न भिन्न हैं—'अन्यद् भावाश्रयं नृत्यमन्यत् ताललयाश्रयम्'। यह दूसरी बात है कि नृत्य तथा नृत्त दोनों ही, जिन्हें हम क्रमशः शास्त्रीय मार्ग तथा देशी भी कह सकते हैं, नाटक के उपस्कारक हो सकते हैं। इसी बात को दशरूपककार कहते हैं:—

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्॥

दशरूपककार की साक्षी पर मैकडोनल्ड का नाच और नाटक को एक मान लेने वाला मत धराशायी हो जाता है।

एक दूसरा मत प्रो० पिशेल का है, जो भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुतलियों के नाच, पुत्तलिकानृत्य-से मानते हैं। प्रो० पिशेल ने बड़े विस्तार के साथ यह बताया है, कि यूनान में प्राचीन नाटकों के पहले पुत्तलिका का प्रचलन नहीं था, अतः वहाँ के नाटकों को इसका विकसित रूप नहीं मान सकते। भारत में इनका प्रचार बहुत पुराना रहा है। महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है। कथासरित्सागर में भी इन पुतलियों का बड़ा वर्णन है। प्रो० पिशेल ने तो भारतीय नाटक के सूत्रधार की 'संज्ञा' को भी इनसे जोड़ने की चेष्टा की है। वे कहते हैं, कि पुतलियों को नचाते समय नचाने वाला उनके डोरों को—सूत्र को—पीछे से पकड़े रहता है। इसलिए वह 'सूत्रधार' कहलाने लगा, और यही नाम नाटक के प्रयोक्ता को भी दे दिया गया। प्रो० पिशेल के इस मत का खण्डन एक दूसरे पाश्चात्य विद्वान रिजवे ने ही कर दिया है। 'सूत्रधार' शब्द की पिशेल वाली व्युत्पत्ति के बारे में कहा जा सकता है कि 'सूत्रधार' नाटक की कथावस्तु, नायक, रस आदि का सूत्र (संक्षेप) में वर्णन करता है, इसलिए सूत्रधार कहलाता है, डोरे को पकड़ने के कारण नहीं। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' में इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है:—

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः॥

है। जहाँ तक हरिवंश का प्रश्न है, वह बाद का क्षेपक है। हरिवंश की इस नाटक वाली कथा का इतना महत्त्व नहीं, क्योंकि हरिवंश की रचना-तिथि अनिश्चित है।' डॉ० कीथ हरिवंश को ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पहले रखने को राजी नहीं।[1]

महाभारत व रामायण के बाद बौद्ध ग्रन्थों, तथा जैन ग्रन्थों एवं वात्स्यायन के कामसूत्र में भी नाटकों का तथा नटों का संकेत मिलता है। ईसा की दूसरी शती के बहुत पहले भारत में नाटकों का अस्तित्व न मानने वाले पाश्चात्य पण्डितों के आगे वात्स्यायन के अर्थशास्त्र से निम्न पंक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं :—

'कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता। (का० सू० १, ४, २८–३१)

अर्थात् बाहर से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उनका ठहराव या मेहनताना (पूजा) दूसरे दिन लेवें। यदि लोग देखना चाहें तो फिर देखें नहीं तो नटों को विदा कर दें। नगर के नटों व आगन्तुक नटों दोनों को एक दूसरे के कष्ट तथा आनन्द में परस्पर सहयोग देना चाहिए।

इससे भी बहुत पहले पाणिनि के अष्टाध्यायी-सूत्रों में ही शिलाली तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है :—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४।३।११०) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४।३।१११)। इससे शिलाली तथा कृशाश्व इन दो आचार्यों के नटसूत्रों का पता चलता है। डॉ० कीथ, प्रो० सिल्वाँ लेवी की गवाही पर इन दोनों शब्दों में व्यंग्य मान कर इन्हें किन्हीं आचार्यों (नाट्याचार्यों) का नाम मानने से सहमत नहीं हैं। लेवी के मतानुसार 'शिलाली' का अर्थ है 'जिसके पास शिला की ही शय्या है, और कोई चीज सोने को नहीं' और 'कृशाश्व' का अर्थ है 'जिसके घोड़े दुबले-पतले हैं'। पर इस तरह का अर्थ निकालना कोरा मनगढ़न्त ही जान पड़ता है। कीथ यह भी संकेत करते हैं कि 'नट' शब्द का पाणिनि में पाया जाना पुत्तलिका-नृत्यादि की पुष्टि कर सकता है। पाणिनि का काल वे चौथी शताब्दी ई० पू० मानते हैं तथा पाणिनि में 'नाटक' शब्द के अभाव को उस काल में भारतीय नाटकों के न होने का प्रमाण मानते हैं।[2] किन्तु 'नटसूत्र' शब्द ऐसे किसी सैद्धान्तिक ग्रन्थ का संकेत करता है, जिसमें नटों के लिए शिक्षा-प्रशिक्षण, कला-कौशल का विवेचन किया गया होगा। अतः 'शिलाली' व 'कृशाश्व' का लेवी की तरह ऊटपटाँग अर्थ लेना, या कीथ की तरह 'नाटक' शब्द या 'नाटक' के पर्यायवाची शब्द ही पर अड़े रहना बहुत उचित नहीं नजर आता।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' इन दो

---

१. डॉ० ए० बी० कीथ—संस्कृत ड्रामा परिच्छेद २ पृष्ठ १८

२. वही—पृष्ठ ३१

व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक नैयायिक थे, तथा उन्होंने विभावादि साधनों एवं रसरूप साध्य में अनुमाप्य-अनुमापकभाव की कल्पना की है। इस प्रकार वे रस को अनुमेय या अनुमितिगम्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक कल्पना और करते हैं—'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना। इस कल्पना के अनुसार नट सच्चे रामादि नहीं हैं, वे 'चित्र में लिखे घोड़े की तरह' राम हैं। इस कल्पना को दशरूपककार ने भी अपनाया है यह हम यथावसर बताएंगे। शङ्कुक ने 'रस' की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है, ठीक वैसे ही जैसे घोड़े के चित्र को देख कर अनुभव होता है। शङ्कुक ने ही सब से पहले लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयों में रसानुभव न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शङ्कुक भी काश्मीरी थे। वे लोल्लट के ही समसामयिक रहे होंगे। राजतरङ्गिणी के मतानुसार शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय काव्य लिखा था, तथा वे काश्मीरराज अजितापीड के राज्यकाल में थे :—

अथ मम्मोत्पलकयोरुदभूद्दारुणो रणः।
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभटैर्हतैः॥
कविर्बुधमनःसिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥ (रा० त० ४, ७०३-४)

शार्ङ्गधरपद्धति तथा सूक्तिमुक्तावली में शङ्कुक को मयूर का पुत्र कहा गया है, तथा निम्न पद्य को उसके नाम से उद्धृत किया गया है :—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहस्सोढव्य इत्थं शठः॥

क्या ये मयूर 'सूर्यशतक' के रचयिता ही हैं? यदि ऐसा हो तो शङ्कुक सातवीं शती के आसपास रक्खे जा सकते हैं। किन्तु, नाट्यशास्त्री शङ्कुक को इस काल का मानने में आपत्ति है। स्पष्ट है, दोनों शङ्कुक एक नहीं हैं। भरत के व्याख्याकार, अनुमितिवाद के प्रतिष्ठापक तथा भुवनाभ्युदय काव्य के रचयिता शङ्कुक एक ही हैं, और हम उन्हें नवीं शती का मान सकते हैं।

(४) **भट्टनायक** :—रससूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं, जिनके मत का विशद उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। अभिनवगुप्त, जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यक ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है, साथ ही इन लोगों ने भट्टनायक की रचना 'हृदयदर्पण' का भी निर्देश किया है। भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या भरत के नाट्यशास्त्र की टीका, इस विषय में दो मत रहे हैं। डॉ० एस० के० डे के मतानुसार हृदयदर्पण टीका न होकर अलङ्कारशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था।

गुरु भट्टेन्दुराज¹ तथा भट्टतौत थे। उनके पिता स्वयं शैव आगम के प्रकाण्ड पण्डित तथा शिवभक्त भी थे। गुरु भट्टेन्दुराज कवि भी थे, क्योंकि अभिनव अपने 'लोचन' में उनके पद्यों को उद्धृत करते हैं। भट्टतौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते हैं, सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसाशास्त्र पढ़ा हो। साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज से ही किया होगा।

अभिनवगुप्तपादाचार्य एक ओर शैव दार्शनिक थे, दूसरी ओर साहित्य में व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी। अतः उनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जनावाद की आधारभित्ति पर स्थापित है।² वे रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा भरतसूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्तिः' के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्' तथा 'अभिव्यक्तिः' अर्थ करते हैं। वे रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं तथा रसदशा को शैवों की 'विमर्शदशा' से जोड़ते जान पड़ते हैं। धनञ्जय व धनिक को अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का पता था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों अभिनव के समसामयिक ही हैं। पर, इन्हें आनन्दवर्धन के व्यक्तिवादी मत व रससम्बन्धी मत का पूरा पता था, जो अभिनव से भी पहले रस के व्यंग्यत्व की स्थापना कर चुके थे। तभी तो इन्होंने दशरूपक की कारिका में तथा अवलोकवृत्ति में व्यञ्जना जैसी तुरीया वृत्ति की कल्पना का, तथा रस के व्यंग्यत्व का डटकर विरोध किया है, इसे हम देखेंगे।

रस की चर्वणा, तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह 'शान्त रस' की स्थापना है। भरत नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों का हवाला है; किन्तु भरत के ही आधार पर अभिनव ने 'भारती' में शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है, जो अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त को सर्वथा अभीष्ट थी। धनञ्जय व धनिक शान्त जैसे नवम रस को नाट्य में स्थान नहीं देते इसकी विवेचना हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

अभिनवगुप्त का समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वभाग है। अभिनव की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' की रचना १०१५ ई० में हुई थी, इसका निर्देश स्वयं अभिनव ने ही किया है।

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्ते युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितश्शम्भुपादैः॥

---

१. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवाससहृदयश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्॥ (ध्वन्या.लो.)

२. द्रष्टव्य—डॉ० पाण्डेय 'अभिनवगुप्त हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी'

इसी विषय का विशद विवेचन मैंने अन्यत्र अपने 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' नामक गवेषणापूर्ण प्रबन्ध के प्रथम भाग में किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

क्षोणीधरमिश्र, तथा कूरवीराम की टीकाएँ हैं। इनमें धनिक की अवलोक नामक वृत्ति ही प्रसिद्धि पा सकी है।

(७) **धनिक** :—धनिक 'दशरूपक' कारिकाओं के रचयिता धनञ्जय के ही छोटे भाई थे। अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त की पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे विष्णु के पुत्र थे—

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः॥

कुछ लोगों के मतानुसार कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। कई अलङ्कारग्रन्थों में दशरूपक को धनिक की रचना बताया जाता है। यही कारण है कि कारिकाकार तथा वृत्तिकार की अभिन्नता वाला भ्रान्त मत प्रचलित हो गया है। अवलोक में ऐसे कई स्थल हैं जो इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हैं कि कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं।

धनिक के मतों का विशेष विवेचन हम आगे करेंगे। वैसे धनिक पक्के अभिधावादी तथा व्यञ्जनाविरोधी हैं। वे रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के मत को मानते हैं; यद्यपि उस मत में लोल्लट व शङ्कुक के मतों का कुछ मिश्रण कर लेते हैं। वे शान्त रस को नाटक में स्थान नहीं देते। उनके इन सिद्धान्तों को हम आगे देखेंगे।

धनिक ने 'अवलोक' के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र पर एक दूसरे ग्रन्थ की भी रचना की थी, यह 'काव्यनिर्णय' था। धनिक अपनी वृत्ति के चतुर्थ प्रकाश में स्वयं इस ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए इससे ७ कारिकाएँ उद्धृत करते हैं:—'**यथावोचाम काव्य-निर्णये**—' सम्भवतः यह ग्रन्थ कारिकाओं में था। धनिक स्वयं कवि भी थे। वे स्थान-स्थान पर उदाहरणों के रूप में अपने पद्यों को भी उद्धृत करते हैं।

(८) **विश्वनाथ** :—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में माने जाते हैं। साहित्यदर्पण में इन्होंने नाट्यशास्त्रसम्बन्धी मतों का भी उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थ का षष्ठ परिच्छेद दृश्यकाव्य का विवेचन करता है। विश्वनाथ व्यञ्जनावादी हैं, तथा रस के विषय में उनके सिद्धान्त अभिनवगुप्त के मत की ही छाया हैं। हाँ, वे एक दसवें रस—वात्सल्यरस—की स्थापना करते हैं।

विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी में माना जा सकता है, क्योंकि साहित्य-दर्पण में उदाहृत पद्यों में एक पद्य में अलाउद्दीन—सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी—का वर्णन मिलता है।[1] विश्वनाथ महाकवि चन्द्रशेखर के पुत्र थे जो कलिङ्गराज के सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अतिरिक्त कई काव्यनाटकादि की रचना

धनिक हैं। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त ग्रन्थ है। इसके प्रथम प्रकाश में रूपकों का वर्णन, कथावस्तु या वस्तु के ६४ संध्यङ्गों का वर्णन, तथा अर्थोपक्षेपकों का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाश नायक तथा नायिका के भेद, उनके गुण, क्रियाएं तथा उनके सहचरों का वर्णन है। इसी प्रकाश में नाटकीय वृत्तियों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाश में दशरूपकों में प्रमुख नाटक का विशद रूप से सलक्षण विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर अन्य नौ रूपकों के लक्षणों का निर्देश है। चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकाश के कारिका भाग में क्रमशः ६८, ७२, ७६ तथा ८४ कारिकाएं हैं। इस गणना में अन्त के दो पद्य, प्रशस्ति के पद्य छोड़ दिये गये हैं। कारिका भाग में ७ पद्यों को छोड़कर बाकी सारी कारिकाएँ अनुष्टुप छन्द में हैं।

धनिककृत वृत्ति गद्य में है। इसी वृत्तिभाग में लक्षणों के उदाहरणस्वरूप कई काव्यों तथा नाटकों से पद्यों को उद्धृत किया गया है। अवलोक के अभाव में दशरूपक की कारिकाएँ अपूर्ण हैं, इसी से दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ पर सावलोक दशरूपक की रूपरेखा संक्षेप में दे देना आवश्यक होगा।

प्रथम प्रकाश :—आरम्भ में मङ्गलाचरण के पश्चात कारिकाकार ने दशरूपक की रचना के उद्देश्य को बताया है। यहीं वह यह भी सङ्केत करता है कि दशरूपक कुछ नहीं भरत के नाट्यशास्त्र के मतों का ही संक्षेप है। तदनन्तर वह 'रूपकों में रस ही प्रमुख वस्तु है' इस मत का निर्देश करता है। रूपकों के फल की भाँति, इस ग्रन्थ का भी फल 'रस' सिद्ध हो जाता है। भारतीय शास्त्रपरम्परा में शास्त्र के ४ अनुबन्ध[1] माने जाते हैं, इन्हें 'अनुबन्धचतुष्टय' कहते हैं। ये अनुबन्ध हैं :—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। दशरूपककार ने आरम्भ में ही इनका विवेचन किया है— दशरूपक का विषय क्या है, इसके अध्ययन का अधिकारी कौन है, इस ग्रन्थ का विषय से क्या सम्बन्ध है, तथा इस ग्रन्थ-रचना का क्या प्रयोजन है। प्रथम प्रकाश की चतुर्थ कारिका में धनञ्जय ने बताया है कि इस ग्रन्थ का विषय नाट्यवेद है। वह नाट्यवेद, जिसकी रचना में विरञ्चि, शिव तथा पार्वती ने योग दिया है, जिसकी प्रयोगरचना भरतमुनि ने की है। ऐसे दिव्य, विशाल नाट्यवेद का संक्षेप, इस ग्रन्थ का विषय है, और इसका संक्षिप्त रूप रखना धनञ्जय का अभीष्ट प्रयोजन।

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।

---

१. अनुबन्ध उसे कहते हैं, जो हमारे किसी ज्ञान में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति के प्रयोजकज्ञान का विषय है—अर्थात् वह वस्तु जो हमें किसी प्रवृत्ति की ओर ले जाती है :—'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।'

कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा अवलगित का निर्देश है। इसके बाद तेरह वीथ्यङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकाश में रूपकों के प्रकरणादि अन्य भेदों का लक्षण बताया गया है।

दशरूपक के चौथे प्रकाश का विशेष महत्त्व है। इस प्रकाश में रस की विवेचना की गई है। रस की परिभाषा बताने के बाद उसके साधनों—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अवलोककार ने उन्हें सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। तदनन्तर स्थायीभाव के स्वरूप का वर्णन है। यहीं वृत्तिकार ने रसविरोध तथा भावविरोध के सम्बन्ध में अपने मत उपन्यस्त किये हैं। इसके बाद आठ भावों तथा आठ रसों का उल्लेख करते हुए 'शम' नामक स्थायी भाव की स्थिति का नाट्य में खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में रस के व्यङ्ग्यत्व वाले ध्वनिवादी सिद्धान्त का डटकर खण्डन किया गया है। ध्वनिकार के मतों को उदाहृत करके वृत्तिकार उनके व्यञ्जना-वृत्ति वाले मत का खण्डन करता है, तथा यह सिद्ध करता है कि व्यङ्ग्यार्थ जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, वह सब तात्पर्यार्थ ही है। यहीं वह रस के भावनावादी सिद्धान्त पर जोर देता है तथा विभावादि को भावक एवं रस को भाव्य मानता है। रस के स्वरूप तथा भेदों की विवेचना करने के बाद ग्रन्थ की परिसमाप्ति हो जाती है।

यहाँ हमने दशरूपककार के कारिका भाग तथा वृत्तिभाग के विषय का संक्षेप देने की चेष्टा की। दशरूपककार व वृत्तिकार के नाट्यशास्त्र एवं रस सम्बन्धी अभिनव सिद्धान्तों या मान्यताओं का विशद विवेचन हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

(४)

रूपक, उनके भेद व भेदक तत्त्व

अँगरेजी में जिस अर्थ में 'ड्रामा' (Drama) शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य में 'रूपक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वैसे अधिकतर इस आंग्ल शब्द का अर्थ 'नाटक' शब्द के द्वारा किया जाता है, किन्तु नाटक रूपकों का एक भेदमात्र है, वह रूपकों के दस प्रकारों में से एक प्रकार है। वैसे यह प्रकार रूपक का प्रमुख भेद है। जब हम काव्य की विवेचना करने बैठते हैं, तो देखते हैं कि काव्य के दो प्रकार हो सकते हैं—एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। पहला काव्य सुनने या पढ़ने की वस्तु है, इसमें श्रवणेन्द्रिय के द्वारा बुद्धि एवं हृदय का सम्पर्क काव्य के साथ होता है। दूसरा काव्य मुख्य रूप से देखने की वस्तु है, वैसे यहाँ भी पात्रों के संलाप में श्रव्यत्व रहता है। श्रव्य काव्य का कोई रंगमंच नहीं, वह अध्ययनकक्ष की वस्तु है, जब कि दृश्यकाव्य रंगमंच की वस्तु है, उसका लक्ष्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों का मनोरञ्जन, उनमें रसोद्बोध उत्पन्न करना ही है। यही दृश्य काव्य 'रूपक' कहलाता है। इसे 'रूपक' इसलिए कहा जाता है कि इसमें नट पर तत्तत् पात्र का,

रामादि का आरोप कर लिया जाता है' उदाहरण के लिए 'भरत-मिलाप' या 'रामराज्य' के चलचित्रों में एक नटविशेष—प्रेम अदीब—पर राम का, उनकी अवस्था का, आरोप किया गया है।

प्रमुख रूप में रूपक के दस भेद किए गये हैं। वैसे तो रूपकों से ही सम्बद्ध १८ उपरूपक माने जाते हैं और भरत तथा विश्वनाथ ने उनका उल्लेख किया है, किन्तु धनञ्जय व धनिक ने उपरूपकों का वर्णन नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि तृतीय प्रकाश में प्रसङ्गवश उपरूपक के एक प्रमुख भेद—नाटिका—का विवेचन मिलता है। प्रकरणिका; भाणिका, हल्लीश, श्रीगदित, रासक आदि दूसरे उपरूपकों का वहाँ कोई सङ्केत नहीं। वस्तुतः इनमें से कई भेद रूपकों के ही अवान्तर रूप हैं और कुछ भेद ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध काव्य से न होकर प्रमुखतः सङ्गीत-कला व नृत्य-कला से है। रूपकों के ये दस भेद—वस्तु, नेता, तथा रस के आधार पर किये जाते हैं।[1] किसी एक रूपक-प्रकार की कथावस्तु (Plot), उसका नायक—नायक की प्रकृति, तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे अन्य प्रकारों से भिन्न करता है। इसी प्रकार इन दसों रूपकों में से प्रत्येक एक दूसरे से, वस्तु, नेता, व रस की दृष्टि से भिन्न है। ये दस रूपक हैं:—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

वस्तु, तथा प्रासङ्गिक कथावस्तु गौण होती है। आधिकारिक वस्तु की यह संज्ञा इसलिए की गई है, कि इसका सम्बन्ध 'अधिकार' नायक के फलस्वामित्व, या फल प्राप्त करने की योग्यता से है। आधिकारिक वस्तु रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, वह नायक के जीवन की उस महासरिता से सम्बद्ध है, जो निश्चित फल की, निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है। प्रासङ्गिक वस्तु इसी महासरिता में गिर कर उसके प्रवाह में अपनापन खो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु को गति देने वाले क्षुद्र नदी, नद व नाले हैं। उदाहरण के लिए रामायण की वस्तु में रामचन्द्र की कथा आधिकारिक वस्तु है, सुग्रीव या शबरी की कथा प्रासङ्गिक।

प्रासङ्गिक वस्तु के भी दो भेद किए जाते हैं—पताका तथा प्रकरी। जो कथा काव्य या रूपक में बराबर चलती रहती है—सानुबन्ध होती है—उसे पताका कहते हैं। इस पताका कथावस्तु का नायक अलग से होता है, जो आधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है, तथा उससे गुणों में कुछ ही न्यून होता है। इसे 'पताकानायक' कहते हैं। उदाहरणार्थ, रामायण का सुग्रीव, या मालतीमाधव का मकरन्द पताकानायक है, तथा उनकी कथा पताका। जो कथा काव्य या रूपक में कुछ ही काल तक चलकर रुक जाती है, वह 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु होता है। रामायण की शबरी वाली कहानी 'प्रकरी' है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं पताका व प्रकरी आधिकारिक कथा के प्रवाह में ही योग देती हैं। सुग्रीव व शबरी की कहानियाँ राम-कथा को आगे बढ़ाने में सहकारी सिद्ध होती हैं।

इस इतिवृत्त के मूल तथा प्रकृति के विषय में भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में सङ्केत दिया गया है। इतिवृत्त मूल की दृष्टि से तीन तरह का होता है:—१ प्रख्यात, २ उत्पाद्य तथा ३ मिश्र। प्रख्यात इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण या बृहत्कथादि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होता है। इस प्रकार का इतिवृत्त प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, भवभूति के उत्तररामचरित तथा मुरारि के अनर्घराघव की कथा रामायण से ली गई है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण से गृहीत है। भास के स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध हैं। इनका मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी है। जैसा कि हम देखेंगे, नाटक के लिए यह परमावश्यक है कि उसका वृत्त प्रख्यात हो। दशरूपककार ने इतिवृत्त के मूल के विषय में लिखते हुए कहा है:—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं,
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-
च्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥

प्रख्यात इतिवृत्त के निर्वाह में कवि या नाटककार को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। वह कथा के प्रख्यात इतिवृत्त में अपनी कल्पना के अनुसार हेरफेर करके उसकी

अर्थप्रकृतियाँ नाटकीय इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं। सारे नाटकीय इतिवृत्त इन नाटकीय तत्त्वों में विभक्त होते हैं। बीज, वृक्ष के बीज की तरह वह तत्त्व है, जो अङ्कुरित होकर नायक के कार्य या फल की ओर बढ़ता है। बिन्दु वह स्थिति है, जब बीज पानी में गिरे तेल के बूँद की तरह फैलता है। इस दशा में इतिवृत्त का बीज फैलकर व्यक्त होने लगता है। पताका के अन्तर्गत पताका नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त, तथा प्रकरी में दूसरी प्रासङ्गिक वस्तु होती है, यह हम बता चुके हैं।

अवस्थाएं नाटकीय इतिवृत्त की गति को व्यक्त करती हैं। हम देखते हैं मानव का जीवन एक सीधी रेखा की तरह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। वह टेढ़ा-मेढ़ा होता हुआ, अपने उद्देश्य तक पहुँचता है। मानव का जीवन संघर्ष से भरा हुआ है, ये संघर्ष ही उसे गति देते हैं। संघर्ष की चट्टानों को तोड़ता, उन पर विजय प्राप्त करता, आशा और उल्लास के साथ आगे बढ़ता है। मोक्ष जैसे परमानन्द की स्थिति का विश्वासी भारतीय निराशावादी नहीं, संघर्षों से वह डरता नहीं, संघर्ष तो उसकी परीक्षा है। यदि वह उनसे निराश भी होता है, दुखी भी होता है, तो वह निराशा, वह दुःख क्षणिक होता है। उस दुःख के काले पर्दे के पीछे सुख, आशा, उल्लास, आनन्द का दिव्य प्रकाश छिपा रहता है। भाव यह है, भारतीय को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जीवन के संघर्षों, विघ्नों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगा, उसे अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। भारतीय जीवन के 'फलागम' में पूर्ण विश्वास करता है। मानवजीवन का लक्ष्य ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चतुर्वर्गफलप्राप्ति है। हम भारतीयों की धारणा पाश्चात्यों की तरह निराशावादी नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि यहाँ भी कुछ निराशावादी सिद्धान्त अंकुरित हुए, पर आशावाद के प्रताप में वे झुलस-से गये।

काव्य या नाटक का इतिवृत्त कुछ नहीं मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है। 'नाटक मानवप्रकृति का दर्पण है।' भारतीय नाटक-साहित्य में, (संस्कृत नाटकसाहित्य में) भारतीय मानव-जीवन पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुआ है। यह दूसरी बात है कि उनमें सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता, तथा मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों का भी प्रदर्शन है। भारतीयों के आशावादी दृष्टिकोण के ही कारण यहाँ के नाटकों के नायक के लिये फलप्राप्ति आवश्यक है। नाटक का नायक संघर्षों तथा विघ्नों को कुचलता, पददलित करता दुर्धर्ष गति से आगे बढ़े, तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। फलतः यहाँ के इतिवृत्तों का अन्त फलप्राप्ति में ही होगा, नायक की सफलता में ही होगा; फलाभाव में या उसकी असफलता में नहीं। यही कारण है कि निराशावादी ग्रीस की तरह भरत ने दुःखान्तकियों या त्रासदों (Tragedy) को जन्म नहीं दिया। यहाँ के नाटकों का इतिवृत्त सदा सुखान्त रहा है। यहाँ के समस्त नाटक प्रसादान्त या सुखान्त (Comedies) हैं। किन्तु ग्रीस देश के त्रासदों की महत्ता भी यहाँ

की सम्भावना हो जाती है। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। छठे अङ्क में मुद्रिका के फिर से मिल जाने पर शकुन्तला-प्राप्ति नियत हो जाती है। यह प्राप्ति अगले अङ्क में होती है, अतः यहाँ 'नियताप्ति' है। सातवें अङ्क में नायक व नायिका का मिलन हो जाता है, नायक को फलप्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था पाई जाती है।

अर्थप्रकृति तथा अवस्था के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु में पाँच सन्धियाँ भी होती हैं। इन्हें सन्धियाँ इसलिए कहते हैं कि ये पाँच अर्थप्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनती हैं :—

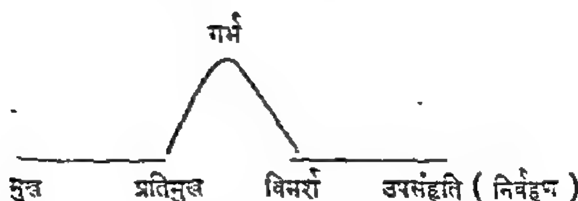
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥

(प्रथम प्रकाश, का० २२)

जैसा कि ऊपर पाँचों अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं तथा सन्धियों के नामनिर्देश में बताया है इनका क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्ध है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुख को, बिन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुख को, पताका तथा प्राप्त्याशा मिलकर गर्भ को, प्रकरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श को, एवं कार्य तथा फलागम मिलकर उपसंहृति या निर्वहण को जन्म देते हैं। जैसे, शकुन्तला नाटक में प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जब सेनापति चला जाता है: तथा दुष्यन्त कहता है—**'विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः'** मुख सन्धि है। तदनन्तर तृतीय अङ्क के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। चतुर्थ अङ्क से पाँचवें अङ्क के उस स्थल तक जहाँ गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन हटाती है, गर्भसन्धि है। पाँचवें अंक के शेष अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अङ्क में विमर्श सन्धि है। तदनन्तर सप्तम अङ्क में निर्वहण सन्धि पाई जाती है। एक दूसरा उदाहरण हम रत्नावली से ले सकते हैं। रत्नावली के प्रथम अङ्क व द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जहाँ रत्नावली (सागरिका) वत्सराज उदयन का चित्र बनाना चाहती है, मुखसन्धि है। दूसरे अङ्क के शेष भाग में प्रतिमुख सन्धि है। तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि पाई जाती है। चतुर्थ अङ्क में अग्निकाण्डवाली घटना तक विमर्श सन्धि है, तदनन्तर निर्वहण।

नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकादि में इन ६४ सन्ध्यङ्गों का, सभी का प्रयोग किया जाय। वैसे भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी नाटक-कृतियाँ ऐसी पाई जाती हैं, जिन्होंने इन सन्ध्यङ्गों का पूरा निर्वाह करने की चेष्टा की है। पर इसका परिणाम यह हुआ है कि भट्टनारायण को वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में भानुमती-दुर्योधन वाले प्रेमालाप की रचना जबर्दस्ती करनी पड़ी है। यह काव्य के रस में न केवल बाधक हुआ है, अपि तु उसने दुर्योधन के चरित्र को उपस्थित करने में गड़बड़ी कर दी है।

कथावस्तु के इस विभाजन के विषय में कीथ का मत है कि 'जहाँ तक सन्धियों का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि इनमें नाटकीय संघर्ष पर जोर दिया गया है, किस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फलप्राप्ति की ओर बढ़ता है यह इस विभाजन का लक्ष्य है किन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन अनावश्यक है। साथ ही पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थप्रकृतियों व पाँचों अवस्थाओं से क्रम से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है।' पाँचों सन्धियाँ कथावस्तु में आवश्यक हैं, विशेष कर नाटक की वस्तु में, क्योंकि उसे **'पञ्चसन्धिसमन्वित'** होना ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि कई रूपक ऐसे हैं, जिनमें पाँचों सन्धियाँ न होकर चार या तीन ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। हम यहाँ नाटक की इन पाँच सन्धियों की गति को एक रेखाचित्र से व्यक्त कर देते हैं।



कथावस्तु के विभाजन पर विचार किया गया। हम देखते हैं दृश्य काव्य रङ्गमञ्च की वस्तु है। उसमें रङ्गमञ्च की आवश्यकता के अनुसार दृश्यों का नियोजन करना होता है। कथा-सूत्रों में कई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मञ्च पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ को तो इसलिए कि उसमें समय विशेष लगता है और कुछ को इसलिए कि वे दर्शकों पर बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। कुछ ऐसे भी कथा-सूत्र होते हैं, जो कथा-निर्वाह के लिए जरूरी तो हैं, पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मञ्च पर बनाया जाय। इस तरह हम दो प्रकार के कथा-सूत्र मान सकते हैं—१. दृश्य तथा २. सूच्य। दृश्य कथासूत्र मञ्च पर दिखाये जाते हैं, उनका अभिनय किया जाता है, सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान पात्र होते हैं। कभी-कभी सूच्य कथासूत्रों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन

की सम्भावना हो जाती है। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। छठे अङ्क में मुद्रिका के फिर से मिल जाने पर शकुन्तला-प्राप्ति नियत हो जाती है। यह प्राप्ति अगले अङ्क में होती है, अतः यहाँ 'नियताप्ति' है। सातवें अङ्क में नायक व नायिका का मिलन हो जाता है, नायक को फलप्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था पाई जाती है।

अर्थप्रकृति तथा अवस्था के अतिरिक्त नाटक की कथावस्तु में पाँच सन्धियाँ भी होती हैं। इन्हें सन्धियाँ इसलिए कहते हैं कि ये पाँच अर्थप्रकृतियों व पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से बनती हैं :—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥

(प्रथम प्रकाश, का० २२)

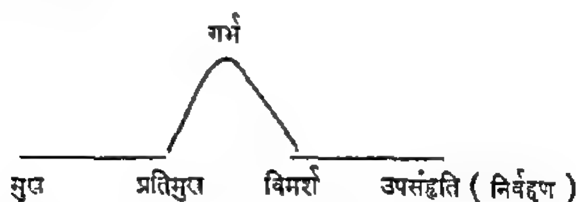
जैसा कि ऊपर पाँचों अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं तथा सन्धियों के नामनिर्देश में बताया है इनका क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्ध है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुख को, बिन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुख को, पताका तथा प्राप्त्याशा मिलकर गर्भ को, प्रकरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श को, एवं कार्य तथा फलागम मिलकर उपसंहृति या निर्वहण को जन्म देते हैं। जैसे, शकुन्तला नाटक में प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जब सेनापति चला जाता है; तथा दुष्यन्त कहता है—**'विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः'** मुख सन्धि है। तदनन्तर तृतीय अङ्क के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। चतुर्थ अङ्क से पाँचवें अङ्क के उस स्थल तक जहाँ गौतमी शकुन्तला का अवगुण्ठन हटाती है, गर्भसन्धि है। पाँचवें अंक के शेष अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अङ्क में विमर्श सन्धि है। तदनन्तर सप्तम अङ्क में निर्वहण सन्धि पाई जाती है। एक दूसरा उदाहरण हम रत्नावली से ले सकते हैं। रत्नावली के प्रथम अङ्क व द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जहाँ रत्नावली (सागरिका) वत्सराज उदयन का चित्र बनाना चाहती है, मुखसन्धि है। दूसरे अङ्क के शेष भाग में प्रतिमुख सन्धि है। तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि पाई जाती है। चतुर्थ अङ्क में अग्निकाण्डवाली घटना तक विमर्श सन्धि है, तदनन्तर निर्वहण।

पाँचों सन्धियों को ६४ सन्ध्यङ्गों में विभक्त किया गया है। हम यहाँ सन्ध्यङ्गों के नामनिर्देशन में न जायँगे। सन्ध्यङ्गों के इस विशाल विभाग के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोग इन्हें जटिल तथा अनावश्यक मानते हैं। डॉ. ए. बी. कीथ की मान्यता है कि नाटकीय इतिवृत्त की दृष्टि से यह विभाजन कोई वास्तविक मूल्य नहीं रखता।[1] रुद्रट के मतानुसार प्रत्येक सन्ध्यङ्ग का प्रयोग अपनी ही सन्धि में करना उपयुक्त है। किन्तु, दूसरे विद्वानों के मत से सन्ध्यङ्गों के लिए यह नियम-निर्धारण ठीक

१. कीथ–संस्कृत ड्रामा. पृ. २९९।

नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकादि में इन ६४ सन्ध्यङ्गों का, सभी का प्रयोग किया जाय। वैसे भट्टनारायण के वेणीसंहार जैसी नाटक-कृतियाँ ऐसी पाई जाती हैं, जिन्होंने इन सन्ध्यङ्गों का पूरा निर्वाह करने की चेष्टा की है। पर इसका परिणाम यह हुआ है कि भट्टनारायण को वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में भानुमती-दुर्योधन वाले प्रेमालाप की रचना जबर्दस्ती करनी पड़ी है। यह काव्य के रस में न केवल बाधक हुआ है, अपि तु उसने दुर्योधन के चरित्र को उपस्थित करने में गड़बड़ी कर दी है।

कथावस्तु के इस विभाजन के विषय में कीथ का मत है कि 'जहाँ तक सन्धियों का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि इनमें नाटकीय संघर्ष पर जोर दिया गया है, किस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फलप्राप्ति की ओर बढ़ता है यह इस विभाजन का लक्ष्य है किन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन अनावश्यक है। साथ ही पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थप्रकृतियों व पाँचों अवस्थाओं से क्रम से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है।' पाँचों सन्धियाँ कथावस्तु में आवश्यक हैं, विशेषकर नाटक की वस्तु में, क्योंकि उसे **'पञ्चसन्धिसमन्वित'** होना ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि कई रूपक ऐसे हैं, जिनमें पाँचों सन्धियाँ न होकर चार या तीन ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। हम यहाँ नाटक की इन पाँच सन्धियों की गति को एक रेखाचित्र से व्यक्त कर देते हैं।



कथावस्तु के विभाजन पर विचार किया गया। हम देखते हैं दृश्य काव्य रङ्गमञ्च की वस्तु है। उसमें रङ्गमञ्च की आवश्यकता के अनुसार दृश्यों का नियोजन करना होता है। कथा-सूत्रों में कई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मञ्च पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ को तो इसलिए कि उसमें समय विशेष लगता है और कुछ को इसलिए कि वे दर्शकों पर बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। कुछ ऐसे भी कथा-सूत्र होते हैं, जो कथा-निर्वाह के लिए जरूरी तो हैं, पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मञ्च पर बताया जाय। इस तरह हम दो प्रकार के कथा-सूत्र मान सकते हैं—१. दृश्य तथा २. सूच्य। दृश्य कथासूत्र मञ्च पर दिखाये जाते हैं, उनका अभिनय किया जाता है, सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मात्र दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान पात्र होते हैं। कभी-कभी सूच्य कथासूत्रों की सूचना नेपथ्य में भी दी जाती है। इन

कथासूत्रों के सूचनाप्रकार 'अर्थोपक्षेपक' कहलाते हैं, क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं :—१. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अङ्कास्य तथा ५. अङ्कावतार। इन पाँचों प्रकार के अर्थोपक्षेपकों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का विशेष महत्त्व है, इन्हीं का प्रयोग नाटकों में प्रायः देखा जाता है। हम इन दोनों की विवेचना बाद में करेंगे। पहले, चूलिकादि तीन अर्थोपक्षेपकों को ले लें।

चूलिका में सूच्य अर्थ की सूचना नेपथ्य से या यवनिका के भीतर से दी जाती है। अङ्कास्य वहाँ होता है, जहाँ किसी अङ्क के अन्त में किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय, जिससे अगले अङ्क का आरम्भ हो रहा हो। अङ्कावतार में पहले अङ्क के पात्र पूर्व अङ्क के अर्थ को विच्छिन्न किए बिना ही दूसरे अङ्क में आ जाते हैं। अङ्कास्य या अङ्कावतार में पात्रों के संवाद के द्वारा सूच्य अर्थ की सूचना दी जाती है।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक में भी विष्कम्भक विशेष प्रधान है। प्रवेशक विष्कम्भक का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है, जहाँ नीच पात्र होते हैं, तथा उसका प्रयोग प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं होता। विष्कम्भक अर्थोपक्षेपक में दो पात्र होते हैं; ये दोनों पात्र गौण अथवा अप्रधान पात्र होते हैं, किन्तु दोनों (या एक) उच्चकुल के होते हैं। विष्कम्भक के द्वारा भूतकाल की या भविष्यत् काल में होने वाली घटना का सङ्केत किया जाता है। इसका प्रयोग कहीं भी हो सकता है। यहाँ तक कि विष्कम्भक नाटकादि के आरम्भ में, प्रथम अंक के आरम्भ में भी प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार का विष्कम्भक का प्रयोग भवभूति के मालतीमाधव में देखा जा सकता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध विष्कम्भक के सभी पात्र मध्यम श्रेणी के तथा संस्कृत वक्ता होते हैं। मिश्र विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी तथा निम्न श्रेणी, दोनों तरह के पात्र होते हैं तथा प्राकृत का भी प्रयोग होता है। शकुन्तला नाटक में चतुर्थ अंक के पूर्व शुद्ध विष्कम्भक पाया जाता है, जहाँ कण्व ऋषि का एक शिष्य आकर हमें बताता है कि कण्व लौट आये हैं।

प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति सूचक अंक है। इसके पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं तथा प्राकृत भाषा बोलते हैं। प्रवेशक का प्रयोग नाटक के आरम्भ में कभी नहीं होता, वह सदा दो अङ्कों के बीच प्रयुक्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में छठे अङ्क के पहले प्रवेशक का प्रयोग पाया जाता है।

इसी सम्बन्ध में 'पताकास्थानक' को भी समझा दिया जाय। नाटककार कभी संवाद या घटना में कुछ ऐसी रचना करता है, जिससे भावी वस्तु या घटना की सूचना मिल जाती है। दशरूपककार ने पताकास्थानक के दो भेद माने हैं—अन्योक्तिरूप तथा समासोक्तिरूप। रत्नावली से राजा के विदा होते समय नेपथ्य से **'प्राप्तोऽस्मि पद्म-समयो ममैष''''''करः करोति'** के द्वारा–उदयन के द्वारा–सागरिका

के भावी आश्वागमन की सूचना दी गई है। यहाँ अन्योक्तिपद्धति वाला पताकास्थानक है। अन्योक्तिपद्धति वाले पताकास्थानक में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का इतिवृत्त एक सा होता है, वे 'तुल्येतिवृत्त' होते हैं। प्रस्तुत उदयन-सागरिका-व्यापार की व्यञ्जना (सूचना) अप्रस्तुत दिनकर-पद्मिनी-व्यापार के द्वारा कराई गई है। रत्नावली में ही एक दूसरे स्थान पर समासोक्तिरूप पताकास्थानक भी पाया जाता है। समासोक्ति-रूप पताकास्थानक में प्रस्तुत पक्ष तथा अप्रस्तुत पक्ष में विशेषणों की समानता होती है, वे 'तुल्यविशेषण' होते हैं। रत्नावली में कलियों से भरी हुई उद्यानलता को देखते समय की उदयन की उक्ति **'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्''''''देव्याः करिष्याम्यहम्'** के द्वारा भावी सागरिका दर्शन से जनित देवीकोप की सूचना दी गई है। यहाँ लता के विशेषण अप्रस्तुत कामविदग्धा नायिका में भी अन्वित हो जाते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रियों की भाँति यहाँ के नाट्यशास्त्रियों ने संवाद (Dialogue) को अलग से तत्त्व नहीं माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं, कि वे इसका विवेचन नहीं करते। वस्तुतः वे इसका विवेचन वस्तु के साथ ही करते हैं, तथा इसे वस्तु का ही अङ्ग मानते जान पड़ते हैं। पात्रों का संवाद हमारे यहाँ कई तरह का माना गया है:—प्रकाश, स्वगत, अपवारित तथा जनान्तिक। प्रकाश वह उक्ति है, जो सर्वश्राव्य हो, जिसे सारे पात्र सुन सकें। स्वगत वह उक्ति है, जो रङ्गमञ्च के अन्य पात्रों को सुनानी अभीष्ट नहीं। अपवारित तथा जनान्तिक कुछ ही लोगों को-रङ्गमञ्च पर स्थित कुछ ही पात्रों को, सुनाना अभीष्ट होता है। अपवारित में पात्र किसी दूसरे एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में गुप्त मन्त्रणा करते हैं। सामाजिक के लिए तो ये सारे ही संवाद श्रव्य होते हैं। इनके अतिरिक्त कभी-कभी नेपथ्य से आकाशभाषित का प्रयोग भी किया जाता है।

(२) *नेता तथा पात्र*:—रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। नेता शब्द के साथ नायक का सारा परिकर आ जाता है। नायिका, नायक के साथी, नायिका की सखियाँ आदि, प्रतिनायक और उसके साथी, सभी 'नेता' के अङ्ग माने गये हैं। नाटकादि के इतिवृत्त का नायक वही बन सकता है, जिसमें विनीतत्वादि अनेक गुण[1] विद्यमान हों। नायक को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का माना गया है। यह प्रकार-भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं, धैर्य के अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है। नायक का पहला प्रकार 'ललित' या धीरललित है; दूसरा 'शान्त' या धीरशान्त (धीरप्रशान्त), तीसरा 'उदात्त' या धीरोदात्त और चौथा 'उद्धत' या 'धीरोद्धत'।

---

१. इन गुणों के लिए दशरूपक के द्वितीय प्रकाश की पहली दो कारिकाएँ व उनकी वृत्ति देखिये।

इनके उदाहरण क्रमशः वत्सराज उदयन, चारुदत्त; राम तथा भीमसेन दिए जा सकते हैं।

(१) **धीरललित :**—धीरललित राजपाट की या दूसरी चिन्ताओं से मुक्त होता है। वह सङ्गीत, नृत्य, चित्र आदि कला का प्रेमी और रसिक-वृत्ति का होता है। प्रेम उसका उपास्य होता है, वह भोगविलास में लिप्त रहता है, तथा प्रायः अनेक पत्नीवाला होता है। धीरललित नायक अधिकतर राजा होता है। उसका राज्यकार्य मन्त्री आदि संभाले रहते हैं और वह अन्तःपुर की चहारदींवारी में प्रेमक्रीड़ा किया करता है। यहीं पर वह नई नई सुन्दरियों के प्रति अपने प्रेम-प्रदर्शन की धुन में रहता है। अपने इस व्यापार में वह अपनी महादेवी (महारानी) से सदा डरता हुआ, शङ्कित होकर, प्रवृत्त होता है। भास तथा हर्षवर्धन का वत्सराज उदयन ऐसा ही धीरललित नायक है। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका का नायक इन सब गुणों से युक्त है।

(२) **धीरप्रशान्त :**—धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक धीरललित से सर्वथा भिन्न होता है। कुल की दृष्टि से वह शान्त प्रकृति का होता है। शान्त प्रकृति प्रायः ब्राह्मण या वैश्य में ही होती है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि धीरप्रशान्त कोटि का नायक या तो ब्राह्मण होता है या वैश्य (श्रेष्ठी)। यह दूसरी बात है कि वह चारुदत्त या माधव की तरह कलाप्रिय भी हो। प्रकरण नामक रूपकभेद का नायक प्रायः धीरप्रशान्त ही होता है। शूद्रक के मृच्छकटिक का नायक 'चारुदत्त' तथा भवभूति के मालतीमाधव प्रकरण का नायक माधव धीरप्रशान्त हैं। दोनों ही कुल से ब्राह्मण हैं। कुछ लोगों के मतानुसार युधिष्ठिर, बुद्ध या जीमूतवाहन को भी इसी कोटि में मानना ठीक होगा, क्योंकि वे शान्त प्रकृति के हैं। अवलोककार धनिक ने इस मत का अच्छी तरह खण्डन किया है। धनिक के मतानुसार वे धीरोदात्त हैं।

(३) **धीरोदात्त :**—धीरोदात्तप्रकृति का नायक भी प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निरभिमानी, अत्यन्त गम्भीर, स्थित तथा अविकत्थन होता है, जिस व्रत को वह धारण कर लेता है उसे छोड़ता नहीं। धीरोदात्त नायक, नायक के सम्पूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। उत्तर-रामचरित के रामचन्द्र या अभिज्ञानशाकुन्तल का दुष्यन्त धीरोदात्त नायक हैं।[1]

---

१. राम व दुष्यन्त का धीरोदात्तत्व क्रमशः निम्न पद्यों से स्पष्ट हो जाता है—

(क)........................यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
(उत्तररामचरित, प्रथम अङ्क)

(ख) स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यते लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायायोपाश्रितानाम्॥
(शाकुन्तल, द्वितीय अङ्क)

(४) धीरोद्धत :—धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यापूर्ण, विकत्थन तथा छली होता है। यही कारण है कि वह 'उद्धत' कहा जाता है। परशुराम या भीमसेन धीरोद्धत कोटि के नायक हैं।

रूपक का प्रत्येक नेता इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार का होता है। हम आगे बतायेंगे कि किस रूपक का नेता किस-किस प्रकृति का होता है।

नायक का एक दूसरे ढङ्ग का वर्गीकरण भी किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके प्रेमव्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये ४ रूप देखे जा सकते हैं। ये रूप अपनी परिणीता पत्नी के प्रति किये गये उसके व्यवहार में पाये जाते हैं। दक्षिण नायक एक से अधिक प्रियाओं को एक ही तरह से प्यार करता है। रत्नावली नाटिका का वत्सराज उदयन दक्षिण नायक है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, पर उससे छिप छिप कर दूसरी नायिकाओं से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखेबाज है, वह ज्येष्ठा नायिका की पर्वाह नहीं करता, कभी-कभी खुलेआम भी दूसरी नायिका-कनिष्ठा से प्रेम करता है। एक ही नायक में भी तीनों अवस्थाएं मिल सकती हैं। रत्नावली का उदयन वैसे कई स्थान पर दक्षिणरूप में, कई स्थान पर शठरूप में तथा कई स्थान पर धृष्टरूप में सामने आता है। फिर भी उसमें प्रधानता दक्षिणत्व की ही है। अनुकूल नायक सदा एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है। उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल नायक हैं, जो केवल सीता के प्रति आसक्त हैं।

नायक के अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्त्विक गुणों की स्थिति होना आवश्यक है। ये गुण हैं :—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य तथा औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। जैसे महावीरचरित तथा वेणीसंहार में, रावण तथा दुर्योधन प्रतिनायक हैं। ये राम तथा युधिष्ठिर की फलप्राप्ति में बाधक होते हैं। नायक का साथी पताकानायक, पीठमर्द कहलाता है। यह बुद्धिमान होता है तथा नायक से कुछ ही गुणों से न्यून रहता है। पीठमर्द सदा नायक की सहायता करता है। रामायण का सुग्रीव, तथा मालतीमाधव का मकरन्द 'पीठमर्द' हैं। नायक के दूसरे सहायक भी होते हैं। नायक के राजा होने पर राज्यकार्य, तथा धर्मकार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक तथा विट होते हैं।

विदूषक संस्कृत नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। वैसे तो वह नाटक में हास्य तथा व्यंग्य की रचना कर नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है, किन्तु उसका इससे भी अधिक गंभीर कार्य है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी बनकर आता है। कभी कभी वह अपने संवाद में ऐसा संकेत करता है, जो उसकी तीक्ष्णबुद्धि का संकेत कर देता है, वैसे मोटे तौर पर वह पेटू तथा मूर्ख दिखाई पड़ता है।

विदूषक ब्राह्मण जाति का होता है, उसकी वेशभूषा, चाल-ढाल, व्यवहार तथा बातचीत का ढंग हास्यजनक होता है। वह ठिगना, खल्वाट तथा दंतुल होता है। विदूषक प्राकृत भाषा का आश्रय लेता है। संस्कृत नाटकों में वह मोदकप्रिय तथा अपने पेटूपन के लिये मशहूर है। विदूषक राजा (नायक) का विश्वासपात्र व्यक्ति होता है, जिसे राजा अपनी गुप्त प्रेम-मन्त्रणा तक बता देता है। वह कभी कभी राजा के गुप्त प्रेम-व्यवहार में सहायक भी होता है। शकुन्तला का विदूषक, तथा मृच्छकटिक का मैत्रेय इसके उदाहरण हैं। व्यंग्य, हास्य तथा आलोचक-प्रवृत्ति की दृष्टि से विदूषक की तुलना शेक्सपियर के 'फालस्टाफ' (Falstaff) से की जा सकती है। किन्तु विदूषक में कुछ भिन्नता भी है, कुछ निजी व्यक्तित्व भी हैं, जो 'फालस्टाफ' के व्यक्तित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाता। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का नर्मसुहृत् होता है। विट किसी न किसी कला में प्रवीण होता है, तथा वेश्याओं के व्यवहारादि का पूरा जानकार होता है। भाण नामक रूपक में विट प्रधान पात्र भी होता है, जहाँ वह अपने अनुभव सुनाता है। कालिदास व भवभूति में विट नहीं है। हर्ष के नागानन्द में, तथा मृच्छकटिक में विट का प्रयोग पाया जाता है।

राजा के और भी कई सहायक होते हैं दूत, कुमार, प्राड्विवाक आदि, जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार किया करते हैं।

(नायिका-भेद)—नाटकादि रूपक में नायिका का भी ठीक उतना ही महत्त्व है, जितना नायक का, विशेष करके शृङ्गार रस के रूपकों में। नाटिका में तो नायिका का विशेष व्यक्तित्व है। नायिका का वर्गीकरण तीन प्रकार का होता है। पहले ढंग का वर्गीकरण उसके तथा नायक के सम्बन्ध पर आधृत होता है। दूसरे ढंग का वर्गीकरण एक ओर उसकी उम्र और अवस्था, दूसरी ओर नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उसके प्रति नायिका के व्यवहार के आधार पर किया जाता है। तीसरा वर्गीकरण उसकी प्रेमगत दशा के वर्णन से संबद्ध है। हम यहाँ इन्हीं को क्रमशः लेंगे।

नायिका को मोटे तौर पर तीन तरह का माना जा सकता है:—१ स्वीया या स्वकीया; नायक की स्वयं की परिणीता पत्नी; जैसे उत्तररामचरित की सीता। २ अन्या; वह नायिका जो नायक की स्त्री नहीं है। अन्या या तो किसी व्यक्ति की अनूढा कन्या हो सकती है, या किसी की परिणीता पत्नी। अनूढा कन्या का रूप हम शकुन्तला, मालती या सागरिका में देख सकते हैं। परस्त्री या अन्य पत्नी का नायिका के रूप में प्रयोग नीति व धर्म के विरुद्ध होने के कारण नाटकादि में नहीं बताया जाता। ३ सामान्या, साधारण स्त्री या गणिका। कई रूपकों में विशेषतः प्रकरण, प्रकरणिका तथा भाण में गणिका भी नायिका के रूप में चित्रित की जा सकती है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना गणिका ही है।

अवस्था के अनुसार नायिका—१ मुग्धा, २ मध्या तथा ३ प्रौढा या प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका प्राप्तयौवना होती है, वह बड़ी भोली, प्रेम-कलाओं से अज्ञात, तथा प्रेम-क्रीडा मे डरी-सी रहती है। वह नायक के समीप अकेली रहने में डरती है, तथा नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उस पर क्रोध नही करती, बल्कि स्वयं आँसू गिराती है। मध्या नायिका सम्प्राप्ततारुण्यकामा होती है; उसमें कामवासना उद्भूत हो जाती है। नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर वह क्रुद्ध होती है। ऐसी दशा में उसके तीन रूप होते हैं :-१. धीरा, २. अधीरा, ३. धीराधीरा। धीरा मध्या प्रतिकूलाचरण वाले नायक को श्लिष्ट वाक्यों के द्वारा उपालंभ देती है। अधीरा कटु शब्दों का प्रयोग करती है। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर नायक को व्यंग्य भी सुनाती है। इस प्रकार मध्या तीन प्रकार की होती है। प्रौढा या प्रगल्भा नायिका प्रेमकला मे दक्ष होती है, प्रेमक्रीडा में वह कई प्रकार के अनुभव रखती है। कृतापराध प्रिय के प्रति उसका आचरण मध्या की भाँति ही तीन तरह का हो सकता है। अत. वह भी तीन प्रकार की होती है :—१. धीरा, २. अधीरा, ३. धीराधीरा। धीरा प्रौढा प्रिय को कुछ नही कहती, वह केवल उदासीन वृत्ति धारण कर लेती है। इस प्रकार वह नायक की कामक्रीडा में हाथ नही बटाती और उसमें बाधक-सी होकर अपने क्रोध की व्यञ्जना करती है। अधीरा प्रौढा नायक को डराती, धमकाती और यहाँ तक कि मारती-पीटती भी है। धीराधीरा प्रौढा मध्या धीराधीरा की भांति ही व्यंग्योक्ति का प्रयोग करती है। इसके साथ ही मध्या तथा प्रौढा के तीन तीन भेदों का फिर से ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। ज्येष्ठा नायिका नायक की पहली, तथा कनिष्ठा उसकी अभिनव प्रेमिका होती है। उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका मे वासवदत्ता ज्येष्ठा है; सागरिका कनिष्ठा। इस प्रकार मध्या के ६ भेद तथा प्रौढा के भी ६ भेद हो जाते हैं। मुग्धा नायिका केवल एक ही तरह की मानी जाती है। उसे इन भेदों मे मिला देने पर इस वर्गीकरण के अनुसार नायिका के १३ भेद होते हैं।

नायिका का तीसरा वर्गीकरण उसकी दशा को उपस्थित करता है। इसके अनुसार नायिका आठ तरह की होती है :—१. स्वाधीनपतिका, २ वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितप्रिया तथा ८. अभिसारिका। स्वाधीनपतिका का नायक सर्वथा उसके अनुकूल होता है, जैसे वह उसके अधीन होता है। वासकसज्जा नायिका नायक के आने की राह में सजधज कर बैठी रहती है। नायक के आने के विषय मे उसके हृदय मे पूर्ण आशा होती है। विरहोत्कण्ठिता का नायक ठीक समय पर नहीं आता, अतः उसके हृदय मे खलबली मची रहती है, आशा तथा निराशा का एक संघर्ष उसके दिल मे रहता है। खण्डिता का नायक दूसरी नायिका के साथ रात गुजार कर उसका अपराध करता है, और प्रातः जब लौटता है, तो परस्त्रीसम्भोग के चिह्नों से युक्त रहता है जिसे देखकर खण्डिता क्रुद्ध होती है। कलहान्तरिता नायिका कलह के कारण प्रिय से वियुक्त हो जाती है,

तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है। विप्रलब्धा नायिका संकेतस्थल (सहेट) पर प्रिय से मिलने जाती है, पर प्रिय को नहीं पाती, वह प्रिय के द्वारा ठगी गई होती है। प्रोषितप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजधजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है, या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है।

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की स्थिति मानी गई है। नायिका में ये गुण भूषण या अलंकार कहलाते हैं, तथा गणना में बीस हैं। इन बीस अलंकारों में पहले तीन शारीरिक हैं, दूसरे सात अयत्नज, तथा बाकी दस स्वभावज हैं। ये हैं :– भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, तथा विहृत।

नायिकाओं में राजा की पट्टराज्ञी महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा की रानियों में कई निम्नकुल की उपपत्नियाँ भी हो सकती हैं। इन्हें स्थायिनी या भोगिनी कहा जाता है। राजा के अन्तःपुर में कई सेवक होते हैं। कंचुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कंचुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक (वर्षवर), किरात आदि भी रहते हैं। अन्तःपुर में रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ आदि भी वर्णित की जाती हैं।

इसी सम्बन्ध में कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में पात्रों के नामादि का भी संकेत किया गया है, दशरूपक में इसका अभाव है। इनके मतानुसार गणिका का नाम दत्ता, सेना या सिद्धा में अन्त होना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना का नाम। दास-दासियों के नाम ऋतुसम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हों, जैसे मालतीमाधव में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। कापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होते हों, जैसे मालतीमाधव का अघोरघण्ट।

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे, इस शिष्टता का संकेत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं; पुरोहित या ब्राह्मण उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं, तथा निम्नकोटि के पात्र 'भट्ट'। युवराज भी 'स्वामी' कहा जाता है, तथा दूसरे राजकुमार 'भद्रमुख' कहे जाते हैं। देवता तथा ऋषि-मुनि 'भगवन्' कहलाते हैं, तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण 'आर्य' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। विदूषक राजा या नायक को 'वयस्य' कहता है, वह भी उसे 'वयस्य' ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को 'तात' कहते हैं, बड़े लोग छोटे लोगों को 'तात' या 'वत्स'। मध्यवर्ग के पुरुष परस्पर 'हंहो' कह कर सम्बोधित करें, निम्न वर्ग के लोग 'हण्डे' कहकर। विदूषक महादेवी या उसकी सखियों को 'भवती' कहता है। सेविकाएँ महादेवी या रानियों को 'भट्टिनी' या '[illegible]ामिनी' कहती हैं। पति पत्नी को 'आर्या' कहता है। राजकुमारियाँ 'भर्तृदारिका'

तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है। विप्रलब्धा नायिका संकेतस्थल (सहेट) पर प्रिय से मिलने जाती है, पर प्रिय को नहीं पाती, वह प्रिय के द्वारा ठगी गई होती है। प्रोषितप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजधजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है, या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है।

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की स्थिति मानी गई है। नायिका में ये गुण भूषण या अलंकार कहलाते हैं, तथा गणना में बीस हैं। इन बीस अलंकारों में पहले तीन शारीरिक हैं, दूसरे सात अयत्नज, तथा बाकी दस स्वभावज हैं। ये हैं :- भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, तथा विहृत।

नायिकाओं में राजा की पट्टराज्ञी महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा की रानियों में कई निम्नकुल की उपपत्नियाँ भी हो सकती हैं। इन्हें स्थायिनी या भोगिनी कहा जाता है। राजा के अन्तःपुर में कई सेवक होते हैं। कंचुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कंचुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक (वर्षवर), किरात आदि भी रहते हैं। अन्तःपुर में रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ आदि भी वर्णित की जाती हैं।

इसी सम्बन्ध में कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में पात्रों के नामादि का भी संकेत किया गया है, दशरूपक में इसका अभाव है। इनके मतानुसार गणिका का नाम दत्ता, सेना या सिद्धा में अन्त होना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना का नाम। दास-दासियों के नाम ऋतुसम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हों, जैसे मालतीमाधव में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। कापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होते हों, जैसे मालतीमाधव का अघोरघण्ट।

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे, इस शिष्टता का संकेत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं; पुरोहित या ब्राह्मण उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं, तथा निम्नकोटि के पात्र 'भट्ट'। युवराज भी 'स्वामी' कहा जाता है, तथा दूसरे राजकुमार 'भद्रमुख' कहे जाते हैं। देवता तथा ऋषि-मुनि 'भगवन्' कहलाते हैं, तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण 'आर्य' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। विदूषक राजा या नायक को 'वयस्य' कहता है, वह भी उसे 'वयस्य' ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को 'तात' कहते हैं, बड़े लोग छोटे लोगों को 'तात' या 'वत्स'। मध्यवर्ग के पुरुष परस्पर 'हंहो' कह कर सम्बोधित करें, निम्न वर्ग के लोग 'हण्डे' कहकर। विदूषक महादेवी या उसकी सखियों को 'भवती' कहता है। सेविकाएं महादेवी या रानियों को 'भट्टिनी' या 'स्वामिनी' कहती हैं। पति पत्नी को 'आर्या' कहता है। राजकुमारियाँ 'भर्तृदारिका'

सञ्चरण करते रहते हैं। ये भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। इनकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे समुद्र में तरङ्गों के उदय व अवसान की। स्थायी भाव समुद्र है, सञ्चारिभाव तरङ्गें। चूंकि ये भाव क्षणिक तथा अस्थिर हैं अतः ये सञ्चारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। गिनती में ये सञ्चारी भाव ३३ हैं, जिनके नामादि ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

हम देखते हैं 'भाव' ही 'रस' का बीज है, रस का मूल रूप है। रस के अणु का 'न्यूक्लियस' (Mdens) यही 'भाव' है। भाव क्या है, इसे हम बता चुके हैं। भाव को क्षणिक सञ्चारिभावों से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है। साहित्यशास्त्रियों ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं। धनंजय नाटक में आठ ही भाव मानते हैं, जैसा कि हम आगे 'धनंजय की मान्यताएं' शीर्षक भूमिका भाग में बतायेंगे। अभिनव व नवीन रसशास्त्रियों को नौ भाव अभीष्ट हैं। ये भाव हैं :— रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक। इनके अतिरिक्त नवाँ भाव है 'शम'[1]। इन्हीं भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है :— शृङ्गार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक, करुण तथा नवें भाव 'शम' का रसरूप 'शान्त'। इन आठ रसों में-शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख हैं, चार गौण। ऊपर की सूची के प्रथम चार प्रमुख हैं, द्वितीय क्रमशः प्रथम चार में से एक एक से उद्भूत माने जाते हैं। यथा हास्य को शृङ्गार से, अद्भुत को वीर से, भयानक को वीभत्स से तथा करुण को रौद्र से उद्भूत माना जाता है। इस प्रकार शृङ्गार—हास्य, वीर-अद्भुत, वीभत्स-भयानक, रौद्र-करुण इन रस-युग्मों की स्थिति हो जाती है। इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया जाता है। रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विकसित होता है या फैलता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है। इस प्रकार इन चार स्थितियों में से प्रत्येक का अनुभव ऊपर के एक एक रस-युग्म में क्रमशः पाया जाता है। यथा, शृङ्गार-हास्य में मानस विकसित होता है, उसमें मन का विकास पाया जाता है। इसी तरह वीर-अद्भुत में मन के विस्तार, वीभत्स-भयानक में क्षोभ तथा रौद्र-करुण में विक्षेप की स्थिति रहती है। भूमिका-भाग में हम यहाँ प्रत्येक रस के स्वरूपादि का विवेचन कर व्यर्थ की कलेवर वृद्धि करना ठीक नहीं समझते। इनके लक्षणादि मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

---

१ आगे जाकर विश्वनाथ ने 'वत्सल' भाव की तथा वात्सल्य रस की भी कल्पना की। इसी तरह रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में 'माधुर्य' रस (भक्तिरस) की कल्पना की। शृङ्गार प्रकाश में भोज ने केवल एक ही रस माना, शृङ्गार। बाकी सारे रस भोज के मत में शृङ्गार के ही विवर्त हैं। भवभूति सभी रसों को करुण का विवर्त मानते हैं।

'रस' की संज्ञा दी गई है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, दिव्य है, तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है।

पर 'रस' के साधन, 'भाव' को 'रस' रूप में परिणत करने वाले, ये विभावादि क्या हैं? मान लीजिये, हम एक नाटक देख रहे हैं, कालिदास के शकुन्तला नाटक के प्रथम दृश्य को दिखाया जा रहा है। मञ्च पर दुष्यन्त आता है, वह आश्रम के पादपों को सींचती शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला अपूर्व लावण्यवती है, घड़े को उठाकर नवमल्लिका को पानी पिलाते समय उसके अङ्गों का इस प्रकार का आकुञ्चन प्रसारण होता है कि वह उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। भँवरे से डर के उसका इधर-उधर दौड़ना, काँपना, आँखें हिलाना और चिल्लाना भी दुष्यन्त को उसकी ओर और अधिक आकर्षित करता है। और आगे जाकर दुष्यन्त तथा शकुन्तला के इसी अङ्क में परस्पर विदा होते समय शकुन्तला का दर्भ से पैर के क्षत होने का बहाना बनाना, या लताओं में आँचल के न उलझने पर भी उसे सुलझाने का उपक्रम करना, शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के आकर्षण को परिपुष्ट रूप दे देता है। कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त उपवन तथा मालिनीतीर आदि भी दुष्यन्त के मानस में शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव को व्यक्त कर उसे 'शृङ्गार' के रूप में परिणत करने में कारण होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं दुष्यन्त के मन में 'रस' व्यक्त होता है, अतः दुष्यन्त 'शृङ्गार' रस का आस्वादकर्ता है, वह 'रति' भाव का आश्रय है। इस भाव को 'रस' रूप में परिणत करने का प्रमुख साधन शकुन्तला है, किन्तु इसके साथ शकुन्तला की चेष्टाएँ तथा उस दृश्य के देश-कालादि भी सहायता करते हैं। ये दोनों विभाव कहलाते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के 'रति' भाव का आलम्बन है तथा देश-कालादि इसके उद्दीपन। जब दुष्यन्त के मन में 'रति' भाव का अनुभव होने लगता है, तो उसके शरीर में कई चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसका चेहरा खिल उठता है, कभी उसकी आँखें बार बार शकुन्तला की ओर अपने आप उठती हैं, वह फिर उन्हें समेटता है, इस प्रकार की दुष्यन्त की चेष्टाएं 'अनुभाव' कहलाती हैं, क्योंकि ये 'रति' भावानुभूति के बाद पैदा होती हैं या उस 'भाव' का अनुभव सामाजिकों को कराती हैं। तीसरे साधन सञ्चारिभाव या व्यभिचारिभाव हैं। हम देखते हैं, शकुन्तला के प्रति 'रीति' भाव उत्पन्न होने पर दुष्यन्त कभी सोचता है कि शकुन्तला ऋषिपुत्री है, अतः वह उसके द्वारा परिणययोग्य नहीं, वह निराशा तथा चिन्ता का अनुभव करता है। कभी उसे अपने मन पर विश्वास होता है, तथा शकुन्तला के विश्वामित्र-पुत्री वाले वृत्तान्त को सुनकर हर्ष तथा आशा होती है। इसके पहले ही उसमें उत्सुकता होती है। इस प्रकार ये सभी प्रकार की भावानुभूतियां वे अस्थायी भाव हैं, जो थोड़े समय तक रहते हैं, और फिर लुप्त हो जाते हैं। एक क्षणिक भाव उठता है, लुप्त हो जाता है, दूसरा उठता है, लुप्त होता है, इस प्रकार एक स्थायी भाव में कई छोटे भाव

के प्रथम दोष का निर्देश व उसके मत का खण्डन करते हुए शङ्कुक ने नये मत को प्रतिष्ठापित किया।

(२) शङ्कुक का अनुमितिवाद :—लोल्लट के उत्पत्तिवाद का सर्वप्रथम खण्डन नैयायिक शङ्कुक ने किया है। शङ्कुक ने अपने मत की प्रतिष्ठापना में भरत के रससूत्र की नई व्याख्या उपस्थित की। उसके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रस की अनुमिति कराते हैं। जैसे हम पर्वत में धुएं को देखकर 'पर्वत अग्निमान है; क्योंकि यह धूमवान् है', इस परामर्श के द्वारा पर्वत में वह्नि स्थिति की अनुमिति कर लेते हैं, वैसे ही नट में रामादि के से अनुभावादि देखकर हम वहाँ रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार विभावादि रस के अनुमापक हैं, रस अनुमाप्य। उनमें उत्पाद्य-उत्पादक-भाव न होकर अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध में शङ्कुक ने चित्रतुरगादिन्याय की कल्पना भी की है। जैसे चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा मानना ही पड़ता है, वैसे ही नट स्वयं राम या दुष्यन्त नहीं है, फिर भी सामाजिक उसे चित्रतुरग की भाँति राम या दुष्यन्त समझता है। तदनन्तर सामाजिक नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है, और यह अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय में रत्यादि भाव रसरूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक इस अनुमिति का अनुभव करते समय, इस अनुभव के रसपूर्ण होने के कारण स्वयं भी रसानुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कुक भी वास्तविक रस रामादि पात्रों में ही मानता है; किन्तु वह लोल्लट की भांति सामाजिकों में उसका सर्वथा अभाव नहीं मानता। शङ्कुक का मत इतने पर भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। रस को अनुमितिगम्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता। यह अनुभव सिद्ध है कि रस प्रत्यक्ष प्रमाण संवेद्य है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को न मानकर रसास्वाद में अनुमिति की कल्पना करने में कोई साधक प्रमाण नजर नहीं आता।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवाद :—भट्ट नायक अपने मत में रसास्वाद के विषय में उत्पत्ति, अनुमिति या अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तों को नहीं मानते। वे रस के विषय में 'भुक्ति' के सिद्धान्त को जन्म देते हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के भोजक हैं, रस भोज्य। भट्ट नायक ने काव्य के सम्बन्ध में 'अभिधा' शक्ति के अतिरिक्त दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। ये दो नये व्यापार हैं—भावकत्व व्यापार, तथा भोजकत्व व्यापार। भट्ट नायक ने इन दो नये व्यापारों की कल्पना कर हमें रस के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। यह दूसरी बात है कि भट्ट नायक का मत भारतीय रसशास्त्र में मान्य न हो सका हो, किन्तु उसने जिन रस सम्बन्धी गूढ बातों का सङ्केत किया है, उनका उपयोग उसके विरोधी अभिनवगुप्त तक ने किया है। रस को अलौकिक रूप देने तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय भट्ट नायक को ही जाना चाहिए।

भट्ट नायक के मत से सामाजिक या श्रोता सर्वप्रथम काव्य की अभिधाशक्ति के द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है। इसी व्यापार द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़कर साधारणीकृत हो जाते हैं। इस दशा में पहुँचने पर सामाजिक की बुद्धि में रजस् तथा तमस् गुणों का प्रभाव नष्ट हो जाता है, वहाँ केवल सत्त्व गुण का उद्रेक पाया जाता है। रस दशा में सामाजिक समस्त लौकिक इच्छाओं से स्वतन्त्र हो जाता है। इस दशा में जो रसास्वाद होता है, उसका साधन भोजकत्व व्यापार है। भट्ट नायक के इस सिद्धान्त पर सांख्यदर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

भट्ट नायक के इस सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने जो दोष निकाला, वह यही है कि भट्ट नायक की भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार की कल्पना का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं।

(४) **अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद** :—भरत के रससूत्र के विषय में अन्तिम मत अभिनवगुप्त का व्यञ्जनावादी मत है। रसशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र में यह मत अपनी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि पा सका है। जैसा कि हम देख चुके हैं अभिनवगुप्त व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों के अनुसार वे रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद-रसध्वनि-मानते हैं। इसी कारण वे रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। काव्य या नाटकादि में प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव रस के अभिव्यञ्जक हैं, रस अभिव्यङ्ग्य। इस प्रकार अभिनव विभावादि तथा रस में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव मानते हैं।

हम देखते हैं कि लौकिक रूप में अपने जीवन में हम कई प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव हमारे मानस में रत्यादि भावों की स्थिति को जन्म देते हैं। प्रत्येक सहृदय के मानस में ये रत्यादि भाव ठीक उसी तरह छिपे पड़े रहते हैं, जैसे नयी शराव में छिपी मृत्तिका की सोंधी वास। जब शराव में जल डाला जाता है, तो मृत्तिका की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, न पानी उस गन्ध को उत्पन्न ही करता है। ठीक इसी तरह जब सहृदय काव्य पढ़ता है या नाटकादि का अवलोकन करता है, तो उस काव्यनाटकादि में वर्णित विभावादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं, और वह भाव रसरूप में व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार सहृदय ही रस का आस्वाद कर सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित हैं। यह रस लौकिक भावानुभव से सर्वथा भिन्न होता है, यही कारण है कि इसे अलौकिक विशेषण से विभूषित कर, ब्रह्मास्वादसहोदर बताया जाता है। इस दशा में सहृदय आनन्दघन का अनुभव करता है। इस दशा की तुलना योगी की दशा

से की जा सकती है। दोनों दशाओं में पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त की यह कल्पना रस की तुलना शैव वेदान्त की 'विमर्श' दशा से करती जान पड़ती है, जहाँ साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है।

इस दशा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि अपने वैयक्तिक रूप को छोड़ दें, साथ ही सामाजिक भी निर्वैयक्तिकता धारण कर ले। उस समय दुष्यन्त-शकुन्तला, राम-सीता अपने व्यक्तित्व को छोड़कर केवल नायक तथा नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं, साथ ही हम भी केवल रसानुभावकर्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभावादि केवल विषय-मात्र तथा सामाजिक केवल विषयि-मात्र रह जाता है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने 'भारती' में स्पष्ट बताया है कि साधारणीकरण केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं, सभी तत्त्वों का—अनुभावादि का भी होता है। साधारणीकरण के कारण ही रसानुभूति होती है, क्योंकि उस दशा में वैयक्तिक रागद्वेषादि का लोप हो जाता है। रसानुभूति का आनन्द अलौकिक है। इसका आस्वाद प्रपाणक के आस्वाद की भाँति है। प्रपाणक में इलायची, कालीमिर्च, मिश्री, केशर, कर्पूर आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जो प्रत्येक वस्तु के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न है। वैसे ही विभावादि सभी का आस्वाद मिलकर रस की विशेष प्रकार की चर्वणा को जन्म देता है।

जैसा कि हम आगे धनञ्जय एवं 'धनिक की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में देखेंगे, दशरूपककार रस को व्यङ्ग्य न मानकर तात्पर्यवृत्तिगम्य मानते हैं, साथ ही विभावादि एवं रस में परस्पर भाव्य-भावक-भाव मानते हैं। उन्हें ध्वनिवादियों का रससम्बन्धी सिद्धान्त मान्य नहीं।

× × ×

रूपक के तीन भेदक तत्त्वों की विवेचना की गई। इनके अतिरिक्त नाटकादि रूपकों में नाटकीय वृत्तियाँ, सङ्गीत, नृत्य, का भी प्रमुख स्थान है। दशरूपककार ने सङ्गीत तथा नृत्य की विवेचना नहीं की है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन दोनों का क्रमशः वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। दशरूपककार ने सात्त्विक अभिनय-रस का ही विवेचन किया है। संस्कृत के कई नाटकों में हम सङ्गीत तथा नृत्य का विनियोग पाते हैं। शकुन्तला में आरम्भ में नटी का सङ्गीत तथा षष्ठ अङ्क में हंसपदिका का गीत है। मालविकाग्निमित्र में मालविका का नृत्य है। पर दशरूपक में ही नहीं। बाद के अलङ्कारशास्त्र के उन ग्रन्थों में भी जो नाट्यशास्त्र के रूपकसम्बन्धी विवेचन का प्रयोग करते हैं, सङ्गीत व नृत्य का विवेचन इसलिए नहीं मिलता, कि वे इन्हें सङ्गीत-शास्त्र के विषय समझने लगे थे।[1]

---

१. नृत्य तथा आंगिक अभिनय का विवेचन नंदिकेश्वर के अभिनयदर्पण में विशेषरूप से हुआ है।

नाटकीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है, दूसरी ओर रसों से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वृत्तियाँ चार हैं :—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती। भारती, दशरूपककार के मतानुसार शाब्दिक वृत्ति है, उसका प्रयोग विशेषतः आमुख या प्रस्तावना में पाया जाता है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृङ्गार रस के अनुकूल होता है। इसके चार अङ्ग होते हैं :—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। इन अङ्गों की विवेचना मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। सात्त्वती वृत्ति वीर, अद्भुत तथा भयानक के उपयुक्त होती है। इसका प्रयोग करुण तथा शृङ्गार में भी किया जा सकता है। आरभटीवृत्ति का प्रयोग भयानक, बीभत्स, रौद्र रसों में होता है।

इस भाग को समाप्त करने के पूर्व हम दशरूपकों की तालिका के साथ उनके वस्तु आदि भेदकों का सङ्केत कर देते हैं, जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट कर देंगे।

१ **नाटक**—पञ्चसन्धियुक्त पौराणिक या ऐतिहासिक वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरोदात्त नायक, शृङ्गार या वीररस, कैशिकी या सात्त्वती वृत्ति।

२ **प्रकरण**—पञ्चसन्धियुक्त कल्पित वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरप्रशान्त नायक, शृङ्गार रस, कैशिकी वृत्ति।

३ **भाण**—धूर्तचरितविषयक कल्पित वस्तु, एक अङ्क, कलावित विट नायक, एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग (Mono-acting) वीर तथा शृङ्गार रस।

४ **प्रहसन**—कल्पित वस्तु, एक अङ्क, पाखण्डी, कामुक, धूर्त आदि पात्र, हास्य रस।

५ **डिम**—पौराणिक वस्तु, चार अङ्क, विमर्श रहित चार सन्धियों में विभक्त वस्तु, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस; सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति।

६ **व्यायोग**—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, गर्भ तथा विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, एक अङ्क, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस, सात्त्वती तथा आरभटी

ये रस परस्पर विरोधी तो नहीं, तथा प्रमुख भाव या रस को क्षति तो नहीं पहुँचाते। स्थायी भाव या भाव की परिभाषा निबद्ध करते समय दशरूपककार बताता है कि वह लवणाकर के समान है, जो सभी वस्तुएं आत्मसात् कर लेता है, उन्हें भी खारी बना लेता है। स्थायी भाव वही है, जो सजातीय तथा विजातीय भावों से क्षुण्ण न होता हो।

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥

भावों का परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है—या तो वे भाव एक साथ एक काव्य में न रह सकें या एक दूसरे के बाधक बन जायं, उनमें बाध्यबाधकभाव हो। जहाँ व्यभिचारियों का प्रश्न है उनका स्थायी के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, साथ ही वे एक साथ न रह सकते हों, यह भी बात नहीं है, क्योंकि ये तो स्थायी भाव के ही अङ्ग बन कर काव्य में आते हैं। उनमें परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अङ्ग होने के कारण व्यभिचारीभाव स्थायीभाव के विरोधी नहीं हो सकते।

जहाँ तक स्थायी भाव या रस के विरोध का प्रश्न है, यदि उनके आलम्बन अलग अलग हैं, तो कोई विरोध नहीं होता। उदाहरण के लिए मालतीमाधव में शृङ्गार रस है, उसके पञ्चम अङ्क में बीभत्स का चित्रण है। ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है? नहीं, मालतीमाधव में एक साथ शृङ्गार तथा बीभत्स का उपनिबन्धन विरोधी इसलिए नहीं पड़ता कि इन दोनों के आलम्बन भिन्न-भिन्न हैं। शृङ्गार का आलम्बन मालती है, तो बीभत्स का श्मशान। वहीं रौद्र रस का उपनिबन्धन है, जहाँ अघोरघण्ट कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन बनता है। यदि अलग-अलग आलम्बन बनाकर, विरोधी रसों का उपनिबन्धन किया जाय, तो विरोध नहीं होता, न वे एक दूसरे के बाधक ही होते हैं।

दो परस्पर विरोधी रसों के विरोध-परिहार का एक ढङ्ग यह भी है कि दोनों के बीच ऐसे रस का समावेश कर दिया जो दोनों का विरोधी न हो।

इसी बीच एक प्रश्न उठना सम्भव है। जहाँ एक ही रस प्रमुख हो, वहाँ अन्य विरोधी या अविरोधी रसों को उसका अङ्ग मानकर, विरोधाभाव मानना ठीक है। पर ऐसे भी काव्य हैं, जहाँ कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस-विरोध का परिहार कैसे किया जाय? वृत्तिकार धनिक इस शङ्का के उठाते समय कई ऐसे काव्य-पद्य-उपस्थित करते हैं, जहाँ एक से अधिक भावों का समप्राधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शङ्का का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। हम निम्न दो उदाहरणों को ले सकते हैं:—

(१) एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्॥

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस-शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यताएं हम तीन शीर्षकों में बाँट देते हैं :—

(१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का निषेध।

(२) रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।

(३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्त का निषेध।

(१) धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्ति :—धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। वे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन ही वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी की नई कल्पना; व्यञ्जना या तुरीया वृत्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाट्ट मीमांसक व्यञ्जना वृत्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकाश में इसी मत का खण्डन करते हुए अपने इस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायीभाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है; जैसे किसी वाक्य रूप में अभिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया, कारकों से युक्त होकर, वाक्यार्थ बन जाती है।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्तः स्थायीभावस्तथेतरैः ॥

धनञ्जय की इस कारिका का वाक्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यशक्तिगम्य माना है।

इसी कारिका के उपोद्घात के रूप में वृत्तिकार धनिक ने सर्वप्रथम ध्वनिकार के मत को उपस्थित किया है, जो काव्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्य-वाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दलील देते है कि रस के वाचक शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति हो ही यह आवश्यक नहीं। साथ ही, वाच्यवाचकभाव मानने पर तो काव्य का वाच्य अर्थ जानने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को रसानुभूति होनी चाहिए; पर ऐसा होता नहीं, रस प्रतीति सहृदय ही कर पाता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा रसप्रतीति मानने पर यह आपत्ति आती है कि काव्य का मुख्यार्थ ठीक बैठ ही जाता है, अतः वहाँ मुख्यार्थ बाध नहीं मान सकते और मुख्यार्थ बाध के बिना लक्षणा संगत नहीं हो सकती। अतः रस तथा विभावादि में परस्पर कोई अन्य सम्बन्ध मानना होगा। वस्तुतः विभावादि व्यञ्जना के द्वारा रस को अभिव्यक्त करते हैं। इस

प्रकार इनमें परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव है। वृत्ति में धनञ्जय ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से उदाहरण देते हुए ध्वनिकार व आनन्द के मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त किया है।

ध्वनिकार की व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्यार्थ का खण्डन करते हुए धनिक ने ऊपर की कारिका की वृत्ति में अपने सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठापना की है। उसके मत से स्थायी भाव तथा रस काव्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ है। हम देखते हैं कोई भी वैदिक या लौकिक वाक्य कार्यपरक होता है। ऐसा न हो तो वह उन्मत्त प्रलपित हो जायगा। काव्य के शब्दों का कार्य या लक्ष्य आनन्दोद्भूति है। इस आनन्दोद्भूति के कारण विभावादि से युक्त स्थायी भाव ही हैं। वाक्य की अभिधाशक्ति उन-उन विभावादि का प्रतिपादन करती है और उनके द्वारा रस के रूप में पर्यवसित होती है। काव्यशब्दों के पदार्थ विभावादि हैं, तथा वाक्यार्थ स्थायी भाव एवं रस। इस प्रकार उनमें वाच्यवाचक भाव मानना पडेगा। यहां अपने अन्य ग्रंथ काव्यनिर्णय से वे कुछ कारिकाएँ उद्धृत करते हुए इस मत को और स्पष्ट करते हैं :—

'काव्य का प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न कोई वस्तु नहीं, अतः उसमें ध्वनि की कल्पना करना ठीक नहीं है। × × × × हम यह तो नहीं कह सकते कि तात्पर्य यहीं तक है, आगे नहीं। तात्पर्य कोई तौली हुई चीज तो है नहीं। वस्तुतः तात्पर्य तो वक्ता के कार्य, वक्ता के विवक्षित पदार्थ तक रहेगा।'

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।

× × × ×

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥

इस प्रकार धनञ्जय तथा धनिक को व्यंजना वृत्ति या रस का व्यङ्ग्यत्व स्वीकृत नहीं।

(२) धनञ्जय व धनिक का रससम्बन्धी मत :—हम देख चुके कि धनञ्जय व धनिक को रस का व्यङ्ग्यत्व मान्य नहीं। वे विभावादि तथा रस में भाव्यभावक-सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत से विभावादि या काव्य भावक है, रसादि भाव्य। हम भट्टनायक के मत में देख चुके हैं कि वे रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में दो व्यापारों की कल्पना करते हैं—भावकत्व तथा भोजकत्व। धनञ्जय तथा धनिक भावकत्व व्यापार के आधार पर रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भाव्यभावक सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। यदि कहीं भरतसूत्र का अर्थ धनञ्जय के मतानुसार किया जाय तो 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भावना' होगा। 'भाव' इसलिए भाव कहलाते हैं कि सामाजिकों को शृङ्गारादि रस की भावना कराते हैं :—

भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।

सामाजिक नाटकादि में नटों के द्वारा अर्जुनादि का अभिनय देखकर उन्हें अर्जुनादि समझ कर उनमें उत्साहादि का आस्वाद ठीक वैसे ही करता है, जैसे बालक मिट्टी के हाथी घोड़ों से खेलते हुए उनसे रस प्राप्त करता है।

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥

इस प्रकार हम धनञ्जय व धनिक के रससिद्धान्त में तीन बातें पाते हैं :—

(१) रस व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का तात्पर्यार्थ है।

(२) रस की भावना होती है, विभावादि में तथा उसमें परस्पर भाव्यभावकभाव है।

(३) नटादि सामाजिक के लिए उसी तरह रामादि बन जाते हैं, जैसे बच्चे के लिए मिट्टी के हाथी-घोड़े सच्चे हाथी-घोड़े बन जाते हैं।

हम एक बार लोल्लट, भट्टनायक तथा शङ्कुक के मतों को याद कर लें। लोल्लट व्यङ्ग्यार्थ को 'दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारजन्य' मानता है। धनञ्जय के मत में पहला अंश लोल्लट का प्रभाव है। हम देख चुके हैं कि धनञ्जय का रस की भावना वाला मत भट्टनायक की देन है। यद्यपि भट्टनायक 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' करते हैं, 'भावना' नहीं, तथापि 'भावना' भी भट्टनायक के मत में पाई जाती है। धनञ्जय के मत का दूसरा अंश भट्टनायक के मत का नवीनीकरण है। तीसरा मत स्पष्ट ही शङ्कुक से लिया गया है। नट के द्वारा अनुकार्य रामादि का अभिनय देखकर सामाजिक उसे रामादि ही समझते हैं। इस विषय में शङ्कुक ने रामादि के रूप में मञ्च पर आये हुए नट की तुलना 'चित्रतुरग' (चित्र के घोड़े) से की है, तथा 'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना की है। धनञ्जय तथा धनिक का मिट्टी के हाथी आदि (मृन्मय द्विरदादि) का उदाहरण शङ्कुक के उदाहरण का ही दूसरा प्रकार है। इस प्रकार स्पष्ट है धनञ्जय के रससम्बन्धी मत में उनकी कोई नवीन कल्पना न होकर, ऊपर के तीन आचार्यों के मतों का ही संमिश्रण है।

(३) धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्तरस का निषेध :—

धनञ्जय ने चतुर्थ प्रकाश की ३५ वी कारिका में शम नामक स्थायीभाव का निषेध करते हुए स्पष्ट कहा है :—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥

इस कारिका वृत्ति में धनिक ने शम स्थायीभाव तथा शान्तरस की अस्वीकृति के कारण उपन्यस्त किए हैं। पहले वे शमविरोधी तीन मतों को सामने रखते हैं :—

(१) कुछ लोग शान्तरस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरतमुनि ने विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नहीं किया।

(२) कुछ लोग 'शान्तरस' का इसलिए अभाव मानते हैं, कि अनादिकाल से आये हुए रागद्वेष का नष्ट होना असम्भव है।

(३) कुछ लोग शान्त का अन्तर्भाव वीर, वीभत्स आदि रसों में ही कर लेते हैं।

धनञ्जय बतलाते हैं कि वे शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकादि रूपकों में ही करते हैं। शम में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होनी चाहिए, यह व्यापार समाप्ति अभिनीत नहीं हो सकती। अतः अनभिनेय होने के कारण, शान्त की स्थिति नाटक में अस्वीकृत करनी ही पड़ेगी।

इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति देखी जाती है। कुछ लोग उन्हें धीरप्रशान्त कोटि के नायक मानने की भी भ्रान्ति कर बैठते हैं। जो लोग नागानन्द नाटक में शान्तरस मानते हैं, उन्हे धनिक निम्न उत्तर देते हैं :—

हम देखते हैं कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती में प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शमभाव के विरुद्ध पड़ती हैं। वस्तुतः जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में वीर रस ही है। इस वीररस का मलयवती-प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तित्वलाभ से कोई विरोध भी नहीं जान पड़ता। इस सब निर्णय से स्पष्ट है कि नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

भारतीय रङ्गमञ्च

दृश्य काव्य या रूपक रङ्गमञ्च पर अभिनीत किए जाने की वस्तु है। यही कारण है कि रङ्गमञ्च के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरत के नाट्यशास्त्र में आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले के भारतीय रङ्गमञ्च की एक झाँकी देखी जा सकती है। धनञ्जय ने रङ्गमञ्च का संकेत नहीं किया है। हम देख चुके हैं धनञ्जय का लक्ष्य सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के विषयों की विशद विवेचना नहीं था। इस भूमिका-भाग के समाप्त कर देने के पूर्व दो शब्द भारतीय रङ्गमञ्च की बनावट, प्रकार, साजसज्जा के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृहों का विशद वर्णन किया है। उनके मत से नाटकादि का अभिनय तीन प्रकार के नाट्यगृहों में होता था। ये उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणी के होते हैं। पहला १०८ हाथ लम्बा, दूसरा ६४ हाथ लम्बा, तथा तीसरा ३२ हाथ लम्बा होता है। इनमें दूसरा ठीक समझा गया है। समस्त नाट्यगृह को दो भागों में बाँट दिया जाता है :—रङ्गमञ्च तथा दर्शकों के बैठने की जगह। दर्शकों के बैठने की जगह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की अलग-अलग जगह होती थी। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के बैठने की जगह पर उसका संकेत

वाला स्तम्भ होता था। ब्राह्मणों के बैठने की जगह श्वेत स्तम्भ होता था, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की जगह क्रमशः रक्त, पीत तथा नील स्तम्भ। बैठने के आसन लकड़ी या ईंट के होते थे। सामाजिकों के बैठने की जगह के सामने रङ्ग या रङ्गमञ्च होता था। द्वितीय श्रेणी के नाट्यगृह में यह रङ्ग आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा होता था। इसके आखिर में रङ्गशीर्ष होता था। रङ्गमञ्च के पीछे पटी या जवनिका होती थी, इसके पीछे नेपथ्य गृह होता था। रङ्गको रङ्गशीर्ष, रङ्गमध्य तथा रङ्गपृष्ठ इन तीन भागों में विभाजित किया जाता था। रङ्ग के दोनों ओर मत्तवारणी होती थीं, जहाँ से पात्र प्रवेश करता था।

भरत के नाट्यशास्त्र में तीन तरह के नाट्यगृहों का उल्लेख है :—प्रथम नाट्यगृह दीर्घ चतुरस्र होता था, जिसे हम 'रेक्टेंग्युलर' कह सकते हैं, इसकी लम्बाई अधिक व चौड़ाई कम होती थी। दूसरे ढङ्ग का नाट्यगृह विकृष्ट चतुरस्र होता था, जिसे हम 'स्कायर' कह सकते हैं, जो लम्बाई व चौड़ाई में बराबर होता था। तीसरे ढङ्ग का नाट्यगृह तिकोना होता था, इसे त्र्यस्र कहा गया है। इनमें प्रत्येक में सामाजिकों के बैठने की जगह का तथा रङ्गमञ्च के विभिन्न भागों का विभाजन उसकी बनावट तथा लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर किया जाता था।

हम बता चुके हैं भारतीय रङ्गमञ्च की अभिवृद्धि के साथ ही साथ संस्कृत के नाटकों का विकास हुआ। कालिदास, शूद्रक, हर्ष, भवभूति आदि के नाटक रङ्गमञ्च पर मजे से खेले जा सकते हैं, वे कोरे पाठ्य-नाटक नहीं। धीरे धीरे भारतीय रङ्गमञ्च का ह्रास होता गया, किन्हीं कारणों से इन्हें राजाश्रय या लोकाश्रय न मिल पाया। फलतः नाटकों में सिद्धान्त और प्रक्रिया की दृष्टि से समन्वय न हो पाया। संस्कृत नाटक धीरे धीरे पाठ्य-नाटक से बनते गये और उनका एक मात्र लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का उदाहरण के रूप में प्रकाशन हो गया। इन नाटकों में धीरे धीरे श्रव्य काव्यत्व बढ़ता गया। इस प्रकार यवनों के भारत में आने के बाद ही भारतीय रङ्गमञ्च तथा संस्कृत नाट्य-साहित्य दोनों अपनी प्राचीन समृद्धि को खो चुके थे।

॥ श्रीः ॥

दशरूपकम्

धनिककृतावलोकसहितं चन्द्रकलाहिन्दीव्याख्योपेतं च



प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १

रूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठम्।

'नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

—रूपं दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत्।

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।

—दशधैव रसाश्रयम्॥ ७॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण। नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

त्रिवर्गादि-ज्ञान का ही कारण है। यहाँ इस मत के प्रवर्तक (आचार्य भामह) को जो नमस्कार किया है वह उनका मजाक उड़ाने के लिए है।

'नाट्यों का संक्षिप्त लक्षण देता हूँ' ऐसा कहने पर, नाट्य क्या है यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, अतः उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—'**अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं**'। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के नायकों (तथा तत्तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल-ढाल, वेश-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय। जैसे नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। नाट्य के समय दुष्यन्त और नट का भेद न रहे उनमें परस्पर अभेद-प्रतिपत्ति हो जाय।

यही नाट्य रूप भी कहलाता है। नाट्य केवल श्रव्य काव्य न होकर रङ्गमञ्च के ऊपर अभिनीत भी होता है, अतः यह दृश्य है, देखा जा सकता है। जैसे हम नीले-पीले आदि रंग को देखते हैं तथा हमारे चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी तरह चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण नाट्य रूप भी कहलाता है।

वही नाट्य-रूप रूपक भी कहलाता है; क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलङ्कार में हम देखते हैं कि मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है—**मुखचन्द्रः** (मुखरूपी चन्द्रमा); वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है, अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारते हैं, वैसे ही एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है, इसे बताया गया है।

रसों पर आश्रित यह नाट्य केवल दस ही तरह का होता है। शुद्ध नाट्य केवल दस ही तरह का होता है, इस अवधारण के लिए 'ही' (एव) का प्रयोग किया गया है। नाटिका का

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

ननु—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥'

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यं तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्या-

---

समावेश रूपक के शुद्ध भेदों मे नहीं। उनका वर्णन संकीर्ण रूपकों में आगे किया जायगा, इसलिए रूपक केवल दस तरह के माने हैं।

उन दस भेदों का उल्लेख करते हैं—'**नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क, ईहामृग**'।

इस विषय में यह आशङ्का हो सकती है कि किसी-किसी ग्रन्थकार का मत भिन्न है, जैसे 'नृत्य के डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य ये सात भेद होते हैं, ये भाण की तरह ही होते हैं' इस तरह तो दूसरे रूपक भी सिद्ध होते हैं फिर 'रूपक दस ही हैं' इस प्रकार अवधारण करना ठीक नहीं जान पड़ता, इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि '**(नृत्य नाट्य से भिन्न है) भावाश्रय नृत्य बिलकुल अलग चीज है**'। नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित है, जब कि नृत्य भाव पर आश्रित है, अतः वे दोनों भिन्न भिन्न हैं।[1] नाट्य रसाश्रित है, नृत्य भावाश्रित; इसलिये उनमें विषयभेद है; तथा 'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'गात्रविक्षेप', जिसका तात्पर्य आङ्गिक अभिनय की बहुलता है, (जब कि नाट्य में चारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं), साथ ही नृत्यकलाविशारद नर्तक कहलाते हैं (नट नहीं); साथ ही नृत्य केवल देखने भर की चीज है, वहाँ श्रवणीय कुछ नहीं होता; कथनोपकथन का वहाँ अभाव रहता है; लौकिक व्यवहार में 'यहाँ प्रेक्षणीयक (दृश्य) है' ऐसा प्रयोग नृत्य के लिए पाया जाता है; इसीलिए नाटकादि रूपकों से नृत्य सर्वथा भिन्न वस्तु है अतः 'दस ही रूपक हैं' यह अवधारण श्रीगदितादि के विषय में सगत बैठ जाता है। नाटकादि रूपक कोरे भाव पर आश्रित न होकर, रसपरक होते हैं। रस समस्त काव्य के उस वाक्यार्थ से निष्पन्न होता है, जो काव्य में प्रयुक्त पदों के अर्थरूप विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संसर्ग से युक्त होता

---

१. नाट्य में पात्रों का सर्वाङ्गीण चित्रण करते हुए रस की परिपुष्टता की जाती है, जो भाव की चरम परिपोषसीमा है, जब कि नृत्य में केवल भावों की अभिव्यञ्जना ही रहती है। नाट्य में कथनोपकथन आवश्यक होता है, जब कि नृत्य में केवल गात्रविक्षेपादि से ही भावव्यञ्जना होती है। नाट्य या रूपक का उदाहरण शाकुन्तल नाटक है, नृत्य का उदयशङ्कर के नाचनृत्य।

र्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्। नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

—नृत्तंताललयाश्रयम्।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति।

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम्॥ ९॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति। द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

है, इसलिए वाक्यार्थरूप अभिनय का पाया जाना (अर्थात् वाचिक अभिनय की सत्ता) ही रसाश्रय है इस बात का संकेत किया गया है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट अवस्पन्दने' धातु से हुई है, जहाँ नट धातु का अर्थ अवस्पन्दन, या कुछ-कुछ चञ्चलता है, अतः नाट्य में सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है, इसीलिए नाट्यविशारद नट कहलाते हैं। जैसे गात्रविक्षेप के समान रूप से दोनों में पाये जाने पर भी नृत्य नृत्त से सर्वथा भिन्न इसीलिए है कि प्रथम में अनुकरण पाया जाता है, दूसरे में नहीं, वैसे ही वाक्यार्थरूप (वाचिक) अभिनय वाले नाट्य से पदार्थरूप अभिनय वाला नृत्य भी अलग चीज है।

ऊपर के विवेचन में प्रसङ्गवश 'नृत्त' का उल्लेख हो गया है, अतः उसकी व्युत्पत्ति की जाती है। **नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है।** नृत्त में केवल अङ्गविक्षेप पाया जाता है, अभिनय का वहाँ अभाव रहता है। यह नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है, तथा लय के आधार पर गति (द्रुत, मन्द या मध्य) का आश्रय लेता है। इसमें किसी भी प्रकार के अभिनय की सत्ता नहीं होती, कोरा गात्रविक्षेप रहता है, जो ताल तथा लय के द्वारा नियमित होता है।[1]

इन्हीं नृत्य तथा नृत्त की पुनः व्याख्या करते हुए बताते हैं कि **'पहला पदार्थाभिनयरूप नृत्य मार्ग भी कहलाता है; तथा दूसरा (नृत्त) देशी भी कहलाता है।'** शास्त्रीयपद्धति से समन्वित पदार्थाभिनयरूप गात्रविक्षेप नृत्य कहलाता है। यह शास्त्रीय होने के कारण मार्ग भी कहलाता है। नृत्त में कोरा गात्रविक्षेप है, जो ताललयसमन्वित है, पर शास्त्रीय नहीं, अतः उसे 'देशी' के नाम से भी पुकारते हैं[2]।

---

१. ताल सङ्गीत में स्वर की मात्रा का तथा नृत्त में पदविक्षेप की मात्रा का नियामक होता है। जैसे सङ्गीत में १६ मात्रा के पद में पहली, पाँचवीं और तेरहवीं पर ताल दिया जाता है, नवीं खाली छोड़ दी जाती है, इसी तरह नृत्त की भी ताल दी जाती है। लय नृत्त की गति को तीव्र, मन्द या मध्यम करने की सूचना देती है।

२. मार्ग या नृत्य का उदाहरण दक्षिण में प्रचलित 'भरतनाट्यम्' या कथक नृत्य या उदयशंकर के भावनृत्य हैं। देशी या नृत्त के उदाहरण हैं लोकनृत्त जैसे भीलों का गरबा।

मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति ।

वस्तुभेदमाह—

—वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ।

ये दोनों ही फिर से दो ढंग के होते हैं :—'मधुर तथा उद्धत; मधुर लास्य कहलाता है, और उद्धत ताण्डव। ये दोनों तरह के नृत्य तथा नृत्त नाटकादि रूपकों के उपस्कारक होते हैं। ये दोनों प्रसङ्गोक्त नृत्य और नृत्त किस के उपयोगी हैं इसलिए 'नाटकाद्युपकारकम्' पद का प्रयोग किया है। नाटकादि में पदार्थाभिनय के रूप में भावाश्रय नृत्य का तथा शोभाजनक होने के कारण नृत्त का प्रयोग पाया जाता है।

शास्त्रीय नृत्य में कोमल भावों तथा उद्धत भावों की व्यञ्जना में भिन्न भिन्न मार्गों का आश्रय लिया जाता है। इसीलिए इसे दो तरह का माना है सुकुमार लास्य और उद्धत ताण्डव। इसी तरह देशी नृत्त का भी हाल है। लोकनृत्तों में प्रयुक्त भैरोंजी, माताजी के नृत्त जिन्हें हम गाँवों में देखते हैं, उद्धत होते हैं, जब कि सावन या होली के अवसर पर प्रचलित कामिनियों के लोकनृत्य मधुरता तथा सुकुमारता लिये होते हैं।

सभी रूपकों में अनुकरण पाया जाता है अतः उनमें कोई भेद नहीं दिखाई देता, फिर यह भेद क्यों किया जाता है, इस भेद का कारण क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं :—इन रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करने वाले तीन तत्त्व हैं :—वस्तु, नेता तथा रस। वस्तुभेद, नायकभेद तथा रसभेद की दृष्टि से ही इनमें परस्पर भेद है।

वस्तुभेद को बताते हुए कहते हैं कि—वस्तु दो तरह की होती है।

इनमें मुख्य वस्तु आधिकारिक (कथावस्तु) कहलाती है तथा अङ्गरूप वस्तु प्रासङ्गिक (कथावस्तु) कहलाती है। नाटकादि रूपकों में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कहते हैं, जैसे रामायण काव्य में राम तथा सीता का वृत्तान्त। इसी आधिकारिक कथा के अङ्गरूप में जिन उपकथाओं का समावेश होता है, वे प्रासङ्गिक कहलाती हैं, जैसे रामायणकथा में ही विभीषण का वृत्तान्त, सुग्रीव का वृत्तान्त या ऐसी ही दूसरी कथाएँ।

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम् = फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्—पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्, यदल्पं सा प्रकरी श्रमणादिवृत्तान्तवत् ।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

आधिकारिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका लक्षण करते हैं। 'फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है, तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फल प्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक वस्तु कहलाती है।' उदाहरण के लिए राक्षसवध, सीताप्राप्ति तथा रामराज्य की स्थापना रामायण कथा का फल है, इसके स्वामी या भोक्ता राम हैं, अतः आरम्भ से रावणवध, सीताप्राप्ति तथा राज्याभिषेक तक की कथा आधिकारिक कथावस्तु है।

अब प्रसङ्गोपात्त प्रासङ्गिक वस्तु की व्याख्या करते हैं। जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसङ्ग से जिसका स्वयं का फल भी सिद्ध हो जाता है; वह प्रासङ्गिक वृत्त है। प्रासङ्गिक इतिवृत्त का प्रमुख ध्येय आधिकारिक वृत्त की फलनिर्वहणता में सहायता प्रतिपादित करना है, किन्तु प्रसङ्गतः उसका स्वयं का भी फल होता है, जैसे सुग्रीवकथा का प्रयोजन वालिवध तथा राज्यलाभ, तथा विभीषणवृत्त का प्रयोजन लङ्काराज्यप्राप्ति।

यह प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी पताका तथा प्रकरी दो तरह का होता है। 'जो प्रासङ्गिक कथा अनुबन्धसहित होती है, तथा रूपक में दूर तक चलती रहती है, वह पताका कहलाती है। तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह प्रकरी कहलाती है।' रामायण की कथा में सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त पताका है, वह दूर तक चलती है, वह मुख्य नायक के पताका चिह्न की तरह आधिकारिक कथा तथा मुख्य नायक की पोषक होती है। (पताका का नायक भिन्न होता है तथा वह पताकानायक कहलाता है।) रामायण में छोटे-छोटे वृत्त प्रकरी हैं जैसे श्रमणा शबरी आदि की कथाएँ।

पताका के साथ ही यहाँ पताकास्थानक की व्युत्पत्ति करते हुए बताते हैं कि 'जहाँ प्रस्तुत भावी वस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो, उसे

यथा च तुल्यविशेषणतया—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

मैं चटकती कलियों वाली, पीले रंग वाली, खिलती हुई इस उपवनलता को देख रहा हूँ जो वायु के निरन्तर वेग के कारण अपनी विशालता को व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधों से आवृत है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासना से उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, सकाम दूसरी स्त्री को देख रहा हूँ जो निरन्तर निःश्वास ले लेकर अपनी कामपीड़ा को व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लता को देखकर मैं अन्य स्त्री को देखने के समान देवी वासवदत्ता का अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराध से मैं निश्चय ही देवी के मुख को क्रोध से आरक्त कान्तिवाला बना दूँगा।

यहाँ लता के वर्णन में तुल्यविशेषणों के द्वारा अपर नायिका की सूचना दी गई है, जो रत्नावली-संबद्ध भावी वृत्त को संकेतित करती है। अतः यहाँ दूसरे ढंग का पताकास्थानक है[1]।

न भरत ही (देखिये ना. शा. २१; ३१-३५)। वे दोनों दूसरे अर्थ को 'तल्लिङ्गार्थ' मानते हैं, अर्थात् वह उसी चिह्न वाला है।

१. हम देखते हैं, धनञ्जय तथा धनिक केवल दो तरह का पताकास्थानक मानते हैं। एक तुल्येतिवृत्तरूप, दूसरा तुल्यविशेषणरूप। प्रथम का उदाहरण 'यातोऽस्मि पद्मनयने' इत्यादि पद्य है, दूसरे का 'उद्दामोत्कलिकां' आदि पद्य। भरत एवं विश्वनाथ दोनों ही चार-चार तरह के पताकास्थानक मानते हैं। विश्वनाथ की परिभाषाएँ भरत के ही श्लोकों की नकल हैं; कहीं 'परिकीर्त्यते' की जगह 'परिकीर्तितम्' कर दिया है, तो 'इष्यते' की जगह 'उच्यते'; उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। भरत की परिभाषा यों है।

'जहाँ किसी एक अर्थ (वस्तु) के चिन्तन के समय नाटकादि के भावी पदार्थ होने के कारण उसी चिह्नों वाले अन्य अर्थ का भी प्रयोग किया जाय,' वहाँ पताकास्थानक होता है।

(१) जहाँ सहसा ही प्रेमानुकूल-व्यापार (उपचार) के कारण उत्कृष्ट प्रयोजनसिद्धि हो, वहाँ पहला पताकास्थानक होता है।

(२) अत्यधिक श्लिष्ट शब्दों वाला; अनेकार्थबोधक; नाटकादि का मंगलसूचक पताकास्थानक दूसरे ढंग का होता है।

(३) जहाँ वक्ता का अर्थ अव्यक्त, किन्तु सनिश्चय हो, तथा श्लिष्ट उत्तर से युक्त हो, वहाँ तीसरा पताकास्थानक होता है।

(४) जहाँ दो अर्थ वाले श्लिष्ट वचनविन्यास का प्रयोग काव्य में हो, तथा वह प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति कराए, वहाँ चौथा (अन्य) पताकास्थानक होता है।'

यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि तल्लिङ्गार्थः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥
सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः। पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्यते ॥
वचस्सातिशयश्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्। पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते ॥

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥ १५ ॥
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।

इति निगदव्याख्यानम्।

इस तरह इतिवृत्त आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासंगिक के दो भेद) तीन प्रकार है, यह फिर से तीन-तीन तरह का होता है। यह तीन तरह का इतिवृत्त प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र इस तरह फिर से तीन-तीन प्रकार का है। प्रख्यात इतिहास, पुराण आदि से गृहीत होता है; उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होता है; तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। साथ ही यह वृत्त दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है।

इष्टार्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। उपन्याससयुतश्च तच्चतुर्थमुदाहृतम् ॥

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं वा ।

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः—यौगन्धरायणः—कः संदेह ('द्वीपादन्यस्मात्–' इति पठति)' इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावन्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

इस इतिवृत्त का प्रयोजन या फल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि इसका **फल (कार्य) धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग है। यह फल कभी तो इनमें से एक ही हो सकता है, कभी दो वर्ग और कभी तीनों वर्ग।**

इस त्रिवर्गरूप फल के साधन की विवेचना करते हुए बताते हैं कि **'रूपक के आरंभ में अल्परूप में संकेतित वह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेकरूप में पल्लवित होता है, बीज कहलाता है।** अल्परूप में निर्दिष्ट हेतु जो वृत्त के कार्य (फल) का साधक है तथा वृक्ष के बीज की तरह पल्लवित होकर अनेकशाख वृक्ष की भाँति वृक्ष के रूप में विवृद्ध होता है, वह पारिभाषिक रूप में बीज कहलाता है। रत्नावली नाटिका के वृत्त का कार्य उदयन व रत्नावली का मिलन करा देना है, जो मंत्री यौगंधरायण को अभीष्ट है। नाटिका के विष्कम्भक में ही यौगन्धरायण की यह चेष्टा, जिसे भाग्य की भी अनुकूलता प्राप्त है, बीज के रूप में सामने रखी गई है। यौगन्धरायण—'इसमें क्या सन्देह है' कहते हुए तथा 'अनुकूल भाग्य कहीं से भी लाकर इष्ट वस्तु को प्राप्त करा देता है' (द्वीपादन्यस्मादपि०) इत्यादि उक्ति से आरंभ करके 'स्वामी की उन्नति के कार्य को प्रारंभ करके तथा दैव के द्वारा सहायता मिलने पर मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त करूंगा' इस उक्ति तक बीज का संकेत करता है।

वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी का केश-संयमन नाटक का फल है। इस कार्य का हेतु भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह है, यही इस नाटक का बीज है।[1] यह बीज भी महाकार्य तथा अवान्तरकार्य का हेतु होने के कारण दो तरह का है।

स्पष्ट है, धनंजय का यह भेद अन्य प्रकार का है। अगर इसे चौथे ही प्रकार का मान लिया जाय, तो यहाँ कुछ संगति बैठ जायगी। पर फिर भी धनंजय ने दूसरे पताकास्थान क्यों नहीं माने यह प्रश्न बना ही रहता है?

१. वेणीसंहार नाटक में बीज **'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'** इस भीमोक्ति से लेकर—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः ।
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ॥
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः ।
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

तथा **'क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते'** तक सूचित हुआ है।

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ १९ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः ।

प्रयोजन या वस्तु के फल से हैं, ये पाँचों उसी अर्थ की प्रकृति से संबद्ध होते हैं[१] ॥ १८ ॥

पाँच अर्थप्रकृतियों का निर्देश कर देने पर अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं:—**फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम**[२] ।

इन्हीं पाँचों के नामानुसार लक्षण बता रहे हैं:—**अत्यन्त फलभाग की उत्सुकता मात्र ही आरंभ कहलाती है ।** किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है तथा उसके प्रति उत्सुकता होती है । इस उत्सुकता मात्र का पाया जाना ही आरंभ है, क्योंकि प्राप्ति के लिए की गई चेष्टा का समावेश 'यत्न' नामक दूसरी अवस्था में हो जाता है । 'मैं इसे करूं' सिर्फ इतनी चेष्टा ही आरंभ है, जैसे रत्नावली नाटिका में 'स्वामी की उन्नति के हेतु का आरंभ कर लेने पर तथा भाग्य के द्वारा इस तरह सहायता किये जाने पर…' आदि उक्ति के द्वारा वत्सराज उदयन के उस कार्यारंभ की सूचना यौगंधरायण के मुंह से दिलाई गई है, जिसकी सिद्धि मंत्री यौगंधरायण पर आश्रित है । यहाँ यौगंधरायण ने उदयन-रत्नावली-मिलनरूप फल के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की है ।

धनिक की भाँति विश्वनाथ भी 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' कहकर चुप रह जाते हैं । वस्तुतः वे षष्ठ परिच्छेद में धनिक की नकल करते हैं । इस समस्या को एक ढंग से सुलझाया जा सकता है । कार्य या प्रयोजन दो तरह के माने जाने चाहिए । एक प्रमुख कार्य जो नाटक का खास कार्य है, जैसे रामकथा में रावण का वध । दूसरा अवान्तरकार्य जैसे विभीषण का मिलना आदि । ऐसा मानने पर अवान्तर कार्य प्रमुख कार्यरूप प्रयोजन का सिद्धिहेतु बन जायगा । पर क्या धनञ्जय, धनिक तथा विश्वनाथ को यह अभीष्ट था । यदि ऐसा हो तो उन्हें संकेत करना चाहिए था । इसके अभाव में हम इस मत को दुष्ट ही मानेंगे ।

१. यहाँ पताका तीसरी तथा प्रकरी चौथी अर्थप्रकृति मानी गई है । पताका का उदाहरण रामकथा में सुग्रीव-वृत्तान्त तथा प्रकरी का शबरी-वृत्तान्त दिया है । इस तरह तो रामकथा में शबरी का वृत्तान्त पहले आता है, सुग्रीव का बाद में । रामकथा में इस लिहाज से प्रकरी तीसरी अर्थप्रकृति हो जायगी, पताका चौथी । इसे कैसे सुलझाना होगा ? इस अपने मत को हमने संधि के प्रकरण में फुटनोट में संकेतित किया है, वहाँ देखना चाहिए ।

२. दशरूपककार के मत से अर्थप्रकृति तथा अवस्था का भेद स्पष्ट नहीं होता । ये दोनों ही कथावस्तु में पाई जाती है । पर आखिर इनमें अन्तर क्या है ? हमारे मतानुसार बीज आदि पाँच अर्थप्रकृति वस्तु के उपादान कारण हैं । इसे हम वस्तु का 'मैटीरियल' कह सकते हैं । जहाँ भी ये पाँच अर्थप्रकृति होंगी, कथा का ढाँचा खड़ा हो जायगा । अवस्था नायक की मनोदशा से संबद्ध है,

अथ प्रयत्नः—

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २० ॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः—'तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि।) इत्यादिना प्रतिपादितः।

प्राप्त्याशामाह—

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया—'एव जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता।' ('एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता।') इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।

नियताप्तिमाह—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' ('सागरिका दुष्करं जीविष्यति।') इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि।' ('किं नोपायं चिन्तयसि?') इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः॥ २२॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च संधयो जायन्ते।

नामक अवस्था होती है। हम देख चुके हैं कि प्राप्त्याशा में फलप्राप्ति के बाद में नायक का मानस सन्देह से विचलित रहता है। किन्तु नियताप्ति में प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उसका मानस एक बात को ('फल प्राप्ति अवश्य होगी' इसे) निश्चित कर लेता है।[1] जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द किये जाने पर उसकी दशा के विषय में विचार करते हुए विदूषक बताता है कि 'सागरिका बड़ी मुश्किल से जिन्दगी काटेगी' इसके बाद वह राजा से पूछता है—'तुम उसके छुटकारे का कोई उपाय क्यों नहीं सोचते?' इसके उत्तर में राजा कहता है—'मित्र, इस विषय में देवी वासवदत्ता को खुश करने के अलावा कोई उपाय नहीं दिखाई देता।' यहाँ भावी (चतुर्थ) अङ्क की घटना के बिन्दु के रूप में सूचित इस देवीप्रसादन से वासवदत्ताजनित विघ्न समाप्त हो जायगा। इस प्रसादन की भावना के कारण फलप्राप्ति की निश्चिति सूचित की गई है।

समस्त फल की प्राप्ति हो जाने पर फलयोग (फलागम) कहलाता है। इस लक्षण में फल के साथ 'समस्त' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अधूरे फल मिलने तक 'नियताप्ति' अवस्था ही मानी जायगी। रत्नावली नाटिका में उदयन को रत्नावली का लाभ तथा तज्जनित चक्रवर्तित्वप्राप्ति नाटिका का फलागम है।

रूपक की अर्थप्रकृति तथा अवस्था का वर्णन करने पर उन दोनों के मिश्रण के संभूत संधियों का वर्णन करते हैं। **बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ जब क्रम से अवस्था, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम इन पाँच अवस्थाओं**

---

१. भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं। अतः एकान्त निश्चय के बाद सदा फलप्राप्ति ही होगी। भारतीय नाट्यशास्त्र की कसौटी पर पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त नाटकों की मीमांसा करने पर 'फलप्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय की दशा में नियताप्ति मानी जा सकेगी। किन्तु 'नियताप्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपकों के ही अनुरूप है।

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

एकेनप्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः ।

के पुनस्ते संधयः—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

से मिलती हैं, तो क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहृति (उपसंहार) इन पाँच संधियों की रचना होती है ॥ २२ ॥

सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हुए कहते हैं कि किसी एक प्रयोजन से परस्पर संबद्ध (अन्वित) कथांशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से संबद्ध किया जाय, तो वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। *एक ओर कथांशों का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से है, दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलागम से दोनों को सम्बद्ध करने पर सन्धि हो जाती है।*

ये सन्धियाँ कौन सी हैं?—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श (विमर्श) तथा उपसंहृति (उपसंहार या निर्वहण)।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' ('सागरिका दुष्करं जीविष्यति।) इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि।' ('किं नोपायं चिन्तयसि?) इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च संधयो जायन्ते।

नामक अवस्था होती है। हम देख चुके हैं कि प्राप्त्याशा में फलप्राप्ति के बारे में नायक का मानस सन्देह से विचलित रहता है। किन्तु नियताप्ति में प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उसका मानस एक बात को ('फल प्राप्ति अवश्य होगी' इसे) निश्चित कर लेता है।[1] जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द किये जाने पर उसकी दशा के विषय में विचार करते हुए विदूषक बताता है कि 'सागरिका बड़ी मुश्किल से जिन्दगी काटेगी' इसके बाद वह राजा से पूछता है—'तुम उसके छुटकारे का कोई उपाय क्यों नहीं सोचते?' इसके उत्तर में राजा कहता है—'मित्र, इस विषय में देवी वासवदत्ता को खुश करने के अलावा कोई उपाय नहीं दिखाई देता।' यहाँ भावी (चतुर्थ) अङ्क की घटना के बिन्दु के रूप में सूचित इस देवीप्रसादन से वासवदत्ताजनित विघ्न समाप्त हो जायगा। इस प्रसादन की भावना के कारण फलप्राप्ति की निश्चिति सूचित की गई है।

समस्त फल की प्राप्ति हो जाने पर फलयोग (फलागम) कहलाता है। इस लक्षण में फल के साथ 'समस्त' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अधूरे फल मिलने तक 'नियताप्ति' अवस्था ही मानी जायगी। रत्नावली नाटिका में उदयन को रत्नावली का लाभ तथा तज्जनित चक्रवर्तित्वप्राप्ति नाटिका का फलागम है।

रूपक की अर्थप्रकृति तथा अवस्था का वर्णन करने पर उन दोनों के मिश्रण के संभूत संधियों का वर्णन करते हैं। **बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य के पाँच अर्थप्रकृतियाँ** **जब क्रम से आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम इन पाँच अवस्थाओं**

---

१. भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं। अतः एकान्त निश्चय के बाद सदा फलप्राप्ति ही होगी। भारतीय नाट्यशास्त्र की कसौटी पर पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त नाटकों की मीमांसा करने पर 'फलप्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय की दशा में नियताप्ति मानी जा सकेगी। किन्तु 'नियताप्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपकों के ही अनुरूप है।

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंधिरिति व्याख्येयं तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥
उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

बीजन्यास उपक्षेपः—

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ।

बनाते हैं कि वहाँ भी हास्य आदि रस की उत्पत्ति तो होती ही है, अतः रसोत्पत्तिहेतु (रस का आलंबन, समाज का उपहास्य पक्ष) ही बीज माना जायगा ।

इसमें बीज के आरम्भ के लिए प्रयुक्त द्वादश अंग होते हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं:— **उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण इन मुख के बारह अङ्गों के नाम अन्वर्थ हैं, अब इनका लक्षण कहेंगे।**

रूपक के आरम्भिक अंश में जब कवि बीज का न्यास करता है, तो उसे उपक्षेप कहते हैं। जिस प्रकार कृषक वृक्षादि के फल की इच्छा से भूमि में बीज का निक्षेप करता है, उसी प्रकार कवि भी कार्यरूप फल के हेतुरूप बीज का निक्षेप रूपक के प्रथम अंक या प्रथम भाग में किया करता है। जैसे रत्नावली नाटिका में मंच पर प्रवेश करने के पहले ही यौगन्धरायण अपने कार्य को बीजरूप में डाल देता है। यौगन्धरायण का कार्य वत्सराज उदयन तथा रत्नावली को मिला देना है, तथा वह इनके मिलाप के लिए व्यापार में संलग्न है, जिसमें उसे दैव की अनुकूलता भी प्राप्त है। इस बीजरूप व्यापार की सूचना यौगन्धरायण ने निम्न नेपथ्योक्ति के द्वारा दी है:—

'अनुकूल होने पर दैव अपनी ईप्सित वस्तु को दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से कहीं से भी लाकर एकदम मिला ही देता है।' इस प्रकार रत्नावली प्राप्तिरूप कार्य के बीज का न्यास होने से यहाँ उपक्षेप है।[1]

---

१. रत्नावली के लङ्का से आने वाले जहाज के टूट जाने पर, डूब जाने की खबर प्रसिद्ध कराकर दैववश प्राप्त उसे यौगन्धरायण सागरिका के रूप में वासवदत्ता की दासी बनाकर रख लेता है। वह इसे जानता है कि सागरिका ही रत्नावली है तथा उसे पूर्ण विश्वास है, उसकी इच्छा पूर्ण होगी, क्योंकि दैव उसके अनुकूल है।

परिकरमाह—

—तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम् ।' इत्यादिना *'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः ।'* इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः ।

परिन्यासमाह—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥'

विलोभनमाह—

—गुणाख्यानं विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन् ।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुपः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग-बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—

'मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

जब (फल से संबद्ध किसी वस्तु के) गुणों का वर्णन किया जाय तो उसे विलोभन कहते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के गुणों के कारण ही उस पर लुब्ध होता है, रूपक में भी नायकादि को फल की ओर लुब्ध करने के लिये कवि उसके गुणों का आख्यान करता है। नायकादि में इष्टप्राप्ति का लोभ उत्पन्न करने के कारण यह तत्त्व 'विलोभन' कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में ही वैतालिक चन्द्रमा तथा वत्सराज के समान गुणों के वर्णन के द्वारा सागरिका का विलोभन करते हैं, जो समागम (उदयन-रत्नावली मिलन) के हेतुरूप अनुराग बीज को सागरिका के हृदय में बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार निम्न पद्य में विलोभन पाया जाता है—

अस्त होने के समय समस्त शोभा (तेज) से शून्य सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर सभी राजालोग शाम के समय एकत्रित होकर प्रीति तथा उन्नति के विधायक वत्सराज उदयन के, कमल की शोभा का अपहरण करने वाले, चरणों का सेवन करने के लिए राजमण्डप में उसी तरह बाट देख रहे हैं, जैसे प्रीति तथा उन्नति के विधायक, चन्द्रमा की, कमल की शोभा को छीन लेने वाली, किरणों की बाट देख रहे हों।

(यहाँ शाम के समय भावी चन्द्रोदय के साथ ही साथ वत्सराज उदयन के गुणों का वर्णन किया गया है। 'पादान्' के श्लिष्ट प्रयोग से अनुप्राणित उपमा अलंकार चन्द्र तथा उदयन के उपमानोपमेय भाव को व्यक्त करता है।)

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में युधिष्ठिर के द्वारा युद्ध-घोषणा की जाने व रणदुन्दुभि के बजने से द्रौपदी का विलोभन किया गया है। निम्न पद्य में भीम ने रणदुन्दुभि के गुणों के आख्यान के द्वारा नाटक की नायिका द्रौपदी का विलोभन किया है।

यह दुन्दुभि किसने बजायी है, जिसकी आवाज हमारे सिंहनाद के समान है। इसकी धीर

---

१. 'गुणाख्यानात्' इत्यपि पाठः ।

अथ युक्तिः—

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटितः।' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति।

अथ प्राप्तिः—

—प्राप्तिः सुखागमः।

यथा वेणीसंहारे—चेटी—'भट्टिणि! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि।' (भर्त्रि! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रमे 'भीमः—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध अस्सुदपुव्वं क्खु एदं वअणं ता पुणो पुणो भण।'

तथा गभीर शब्द मथन के समय चञ्चल तथा क्षुब्ध समुद्र-जल से छिद्रों (गुहाओं) के भरने से शब्द करते हुए चंचल मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, तथा जब एक साथ सैकड़ों ढक्काएँ तथा हजारों भेरियाँ बजाई जाती हैं तो वैसी प्रचण्ड आवाज होती है जैसे गरजते हुए प्रलय के मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुन्दुभि कौरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, तथा कुरुकुल के भावी संहार का उत्पातसूचक प्रलयकालीन झञ्झावात है।

जहाँ अर्थों का (पात्र के अभीष्ट तथ्यों का) अवधारण या समर्थन किया जाय, वहाँ युक्ति होती है। जैसे अन्तःपुर में स्थित सागरिका बड़े मजे से वत्सराज के दृष्टिपथ में आ सकती है, इस प्रयोजन का समर्थन करने से तथा बाभ्रव्य एवं सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के सागरिका (रत्नावली) तथा वत्सराज के समागम के प्रयोजन के समर्थन करने के कारण यहाँ युक्ति की व्यंजना इन पंक्तियों में की गई है:—'मैंने भी सागरिका को सम्मानपूर्वक देवी वासवदत्ता के हाथों सौंप कर ठीक ही किया है। मैंने यह भी कह दिया है कि कञ्चुकी बाभ्रव्य सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र में डूबने से बच गया है और कोशल के जीतने के लिए प्रस्थित सेनापति रुमण्वान् के साथ है।' यहाँ 'मैंने यह ठीक ही किया है' इस वाक्य से यौगंधरायण ने अपने कार्य का समर्थन (अवधारण) किया है, अतः यहाँ युक्ति नामक नाट्कीय तत्व है।

(नाथ ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुख-प्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एतस्स दंसणेण बहुमदं संजादम्।' (कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्पर-प्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्) इति सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरिति।

अथ समाधानम्—

बीजागमः समाधानम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उअणेहि मे उवअरणाई। (तेन ह्युप-नय म उपकरणानि।') सागरिका—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम्। ('भर्त्रि ! एतत्सर्वं सज्जम्।') वासवदत्ता—(निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिट्ठिगोअरं आअदा, भोदु एव्वं दाव। (प्रकाशम्) हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा ता तहिं ज्जेव गच्छ।' ('अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथा-त्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता, भवतु एवं तावत्। चेटि सागरिके ! कथं

फिर से (बार बार) कहिए।' यहाँ भीम के क्रोध के संबन्ध के कारण द्रौपदी को सुखप्राप्ति होती है (इसलिए कि भीम उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर उसकी खुली वेणी को अवश्य आबद्ध करेगा), अतः प्राप्ति मानी गई है।

अथवा, जैसे रत्नावली नाटिका में वैतालिकों की उक्ति सुनकर सागरिका हर्ष के साथ इधर उधर सस्पृह दृष्टि से देखती हुई कहती है—'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है; तब तो दूसरे लोगों की सेवा करने से कलुषित मेरा जीवन इसके दर्शन से सफल हो गया है।' यहाँ सागरिका को सुख की प्राप्ति हुई है, अतः यहाँ भी प्राप्ति है।

स्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कूदूहलं ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम्।' ('सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये।') इत्यनेन। वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः॥'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम्।

अथ विधानम्—

—विधानं सुखदुःखकृत्॥ २८॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधवः—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव—
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय—
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—,द्रौपदी—णाध पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा । ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या ।') भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया ।

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥'

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति ।

अथ परिभावना—

परिभावोऽद्भुतावेशः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि । ता अहंपि इध ट्ठिद ज्जेव णं पूजइस्सम् । ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीक्षते । तत् अहमपीह स्थितैवेनं पूजयिष्यामि ।') इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना ।

उस मालती के नजदीक होने पर मानो अमृत के सेचन से जो मेरा हृदय विस्मय के कारण स्पन्दित हो गया था, तथा उसके दूसरे भावों का अस्त हो गया था, एवं वह आनन्द से मन्द गति वाला हो गया था, वही मेरा हृदय अब (उसके अभाव में) इस तरह तड़प रहा है, मानों अंगारों का स्पर्श कर रहा हो ।

यहाँ मालती तथा माधव के भावी अनुराग तथा समागम का हेतु माधवकृत मालतीदर्शन बीज के अनुरूप होने के कारण माधव में सुख तथा दुःख को उत्पन्न कर रहा है, अतः यहाँ विधान नामक मुखांग है ।

अथवा जैसे वेणीसंहार में संग्रामजनित सुख तथा दुःख का वर्णन करके भीम ने विधान का संनिवेश किया है ।

द्रौपदी—नाथ, तुम फिर भी आकर मुझे आश्वासन दिला जाना ।

भीम—अरे पांचालराजपुत्रि, अब भी झूठे आश्वासनों की क्या जरूरत है । हार की ग्लानि तथा लज्जा से रहित मुख वाले वृकोदर को कौरवों को निःशेष न करने तक तुम फिर से न देखोगी ।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि।' ('किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद्द्रौपद्याः परिभावना।

अथोद्भेदः—

—उद्भेदो गूढभेदनम्।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः।

यथा च वेणीसंहारे—'आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः।' इत्युपक्रमे '(नेपथ्ये)

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।

तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीमः—(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेदः ।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भः—

यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्सम् ।' (नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति । दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यावन्न कोऽपि मा प्रेक्षते तद्गमिष्यामि ।) इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतिनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय इति । सहदेवः—आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।' इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति । सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेदः—

—भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

यथा वेणीसंहारे—'णाध ! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिद-

सरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउबलाइं। ('नाथ! मा खु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।') भीमः—अयि सुक्षत्रिये।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेद इति।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यभावितेति।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश॥ ३०॥

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्य किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः—प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम्। यथा

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्—

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका हिअअ पसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण ।' ('हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजन-प्रार्थनानुबन्धेन ।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलिक्खगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाउत्ति ।' ('तथाप्यालेख्यगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः ।' इत्यनेनैवत्सराजसमागमरति चित्रादिजन्यामभ्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति ।

अथ परिसर्पः

—दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः—

यथा वेणीसंहारे 'कञ्चुकी भीष्मप्रमुखेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु वासुदेवसहायेष्वरिष्वप्यन्तःपुरसुखमनुभवति, इदमपरमयथातथं स्वामिनः

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
　　स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
　　बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात्॥'

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां संग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति।

अथ विधूतम्

—विधूतं स्यादरतिः—

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि ! अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे

ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती) सहि ! अवणेहि एदाइं किं अआरणे अत्ताणं आयासेमि ण भणामि—('सखि ! अपनयैतानि किमकारणं आत्मानमायासयामि । ननु भणामि——)

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम् ॥'
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्' ॥)

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ।

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेविधूननमिति ।

अथ शमः—

—तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरुपशमः शमो यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य ! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे 'सागरिका—(आत्मगतम्) हिअअ ! समस्सस समस्सस मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो ।' (हृदय ! समाश्वसिहि मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः ।) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ।

अथ नर्म—

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता— सहि ! जस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिठ्ठदि ।' ('सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका–(सासूयम्) सुसङ्गदे । कस्स कए अहं आअदा । ('सुसङ्गते । कस्य कृतेऽहमागता ।') सुसङ्गदा— अइ अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम् । ('अयि आत्मशङ्किते ! ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतत् ।') इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म ।

यथा च वेणीसंहारे—'(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति पुनः) भानुमति—(अर्घं दत्त्वा) हला ! उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिणिवत्तेमि । ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि ।') (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति, भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति ।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

अथ नर्मद्युतिः—

—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि अदिणिठ्ठुरा दाणि सि तुमम् जा एवं पि भट्टिणाहत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि । (सहि ! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि ।') सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे !

'सुसंगता—जिसके लिए तुम आई हो, वह तुम्हारे सामने ही है ।

सागरिका—(रत्नावली) सुसंगता, मैं किसके लिये आई हूँ ?

सुसंगता—अरी अपने आप पर वहम करने वाली, इस चित्रफल के लिये । तो इसे ले लो ।'

यह परिहास वचन यहाँ बीज से संबद्ध है, यहाँ नर्म नामक प्रतिमुखांग है ।

और जैसे वेणीसंहार में, जब भानुमती देवपूजा कर रही है, तो दुर्योधन वहाँ पहुँच कर चुपचाप दासी के हाथ से अर्घपात्र लेकर भानुमती को सौंपता है । भानुमती (अर्घ देखकर) अरी दासी, जरा फूल लाओ, मैं दूसरे देवताओं का पूजन कर लूँ । (भानुमती पुष्प लेने को हाथ बढ़ाती है, दुर्योधन पुष्पों को सौंपता है; उसके स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से फूल गिर जाते हैं ।) यहाँ भानुमती दुःस्वप्नदर्शन की शान्ति के लिए देव-पूजा कर रही है, किन्तु यह दुर्योधनकृत परिहासरूप नर्म उस पूजा में विघ्न उपस्थित कर बीज का ही उद्घाटन कर रहा है । यह परिहास प्रतिमुखांग रूप नर्म ही है ।

धैर्य की स्थिति नर्मद्युति कहलाती है । (नर्मद्युति के अन्तर्गत पात्र में धैर्य का संचार पाया जाता है ।)

जैसे रत्नावली की निम्न पंक्तियों में धृति के द्वारा अनुराग बीज उद्घाटित हो रहा है, यहाँ परिहास से उत्पन्न धृति (नर्मद्युति) पाई जाती है ।

सुसंगता—सखि, तुम अब बड़ी निष्ठुर हो गई हो, जो स्वामी के इस प्रकार हाथ से पकड़े जाने पर भी गुस्से को नहीं छोड़ती ।

सागरिका (टेढ़ी भौंहें करके, कुछ हँस कर)—सुसंगता, अब भी चुप नहीं रहती ।

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूपकवचसा निरोधान्निरोधनमिति।

अथ पर्युपासनम्—

पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्——राजा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥'

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटान्वयेन पर्युपासनमिति।

अथ पुष्पम्—

—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूपकः—

प्रकट हो गया है); प्रिया (सागरिका) को मैं कण्ठ से भी न लगा पाया था कि तूने उसे उसी तरह हाथ से गँवा दिया जैसे दैववश प्राप्त, उज्ज्वल रत्नावली (रत्नमाला) को गले में डालने के पहले ही गँवा दिया जाय।'

(नायिकादि के द्वारा किसी का) अनुनय-विनय पर्युपास्ति या पर्युपासन कहलाता है। (प्राप्तव्य के निरोध पर नायकादि उस अवरोध के निवारण के लिए; इस अङ्ग के अंतर्गत अनुनय करते हैं।)

जैसे रत्नावली नाटिका में; वत्सराज व सागरिका का एक चित्र में आलेखन देखकर वासवदत्ता क्रुद्ध हो जाती है। राजा उसका अनुनय करता है। यह अनुनय उन (वत्सराज-सागरिका) दोनों के प्रेम को प्रकट कर उसका साहाय्य संपादित करता है, अतः यह पर्युपासन है। इसकी व्यंजना राजा की उक्ति के निम्न पद्य में हुई है।

'हे वासवदत्ते, तुम खुश हो जाओ' यह कहना इसलिए ठीक नहीं है, कि तुम नाराज नहीं हो। 'मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूँगा' यह कहने पर अपराध स्वीकार करना हो जाता है। 'मेरा कोई दोष नहीं है' ऐसा कहने पर तुम इसे भी झूठ समझोगी। इसलिए हे प्रियतमे, इस मौके पर मुझे क्या कहना चाहिए, यह भी नहीं जानता'।

भो ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। ('भोः ! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।')

राजा—वयस्य ! सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम्।

अथोपन्यासः—

उपन्यासस्तु सोपायम्[1]—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—भट्टा ! अलं सङ्काए, मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभरणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिद त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु।' ('भर्तः ! अलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम्।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति।

—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! एसावि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम्।' ('आर्यपुत्र ! एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम्।') पुनः 'अज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तफलअं पेक्खन्तीए सीसवेअणा

राजा—मित्र सच कहते हो। यह श्री है, और इसका हाथ कल्पवृक्ष का पल्लव है। नहीं तो, यह (हाथ) स्वेद के बहाने से अमृतद्रव को कैसे (यहाँ से) छोड़ता है।

उपाययुक्त या हेतुप्रदर्शक वाक्य उपन्यास कहलाता है। जैसे रत्नावली में सुसङ्गता यह बता कर कि चित्र में सागरिका मैंने अङ्कित की है और सागरिका ने पुनः इस बात से प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर बीज का उद्भेद किया है। अतः सुसङ्गता की इस उक्ति में उपन्यास है—

'स्वामिन्, सन्देह न करें, मुझे भी तो आपकी कृपा से प्रसन्नता है, इस कर्णफूल की क्या जरूरत है। इससे ज्यादा खुशी तो मुझे इसमें होगी कि आप मेरी प्यारी सखी सागरिका को खुश करें, क्योंकि वह मुझ से इसलिए नाराज है कि मैंने उसे इस चित्र में अङ्कित कर दिया है।'

जहाँ नायकादि के प्रति कोई पात्र प्रत्यक्ष में निष्ठुर वचन का प्रयोग करे वह (वज्र के समान तीक्ष्ण व मर्मभेदी) वाक्य वज्र कहलाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता उन दोनों के प्रेम को जान कर क्रुद्ध होती हुई निष्ठुर वचनों को व्यवहार में लाती है, यहाँ वज्र अभिप्राय है।

---

१. 'प्रसादनमुपन्यासः' इति पाठान्तरम्।

समुप्पण्णा।' (आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना।') इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति।

अथ वर्णसंहारः—

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः !
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥'

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्भेनाद्वर्णसंहार इति।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तविन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम्, इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति।

अथ गर्भसंधिमाह—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥ ३६ ॥

'(चित्रफलक को दिखा कर) आर्यपुत्र, यह (सागरिका) तुम्हारे पास जो (चित्रित) है, क्या वह तुम्हारे मित्र वसन्तक (विदूषक) की करामात (कौशल; विज्ञान है)?
× × × आर्यपुत्र, मेरे भी इस चित्रकर्म को देख कर सिरदर्द हो आया है।'

जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादि वर्ण) एक साथ एकत्रित हों, वहाँ वर्णसंहार होता है। जैसे महावीरचरित के तृतीय अङ्क में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि (चारों) वर्ण इकट्ठे होकर वचनों के द्वारा रामविजय की आशंसा वाले परशुराम के गुस्से की शान्ति की प्रार्थना करते हैं। अतः यहाँ वर्णसंहार है, जिसकी सूचना उस अङ्क के निम्न पद्य से हुई है।

'यह ऋषियों का समाज, यह बूढ़ा युधाजित; अमात्यगण के साथ राजा, और बूढ़े लोमपाद, और यह निरन्तर यज्ञ करने वाले, पुराने (विख्यात) आत्मज्ञानी जनकों के राजा (राजा जनक) भी द्रोहरहित आपकी प्रार्थना करते हैं।'

प्रतिमुखसन्धि के ये तेरह अङ्ग, मुखसन्धि के द्वारा डाले गये विन्दु रूप दूसरे वीज, महावीज तथा प्रयत्न के साथ-साथ उपनिवद्ध किये जाने चाहिये। इनमें से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प प्रधान हैं; बाकी अङ्गों का प्रयोग यथा संभव हो सकता है।

अथ गर्भसंधिमाह—

जब वीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है, तो गर्भसंधि होती है। यह गर्भसंधि बारह अङ्गों वाली होती है। इसमें वैसे तो पताका (अर्थप्रकृति) तथा प्राप्तिसम्भव (अवस्था) का मिश्रण पाया जाता है; किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं; वह हो भी सकती है, नहीं भी; किन्तु प्राप्तिसंभव का होना बहुत जरूरी है।

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति—'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति—'स्यात्' इति। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणोपायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति।

स च द्वादशाङ्गो भवति। तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते

यथोद्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वया-

---

जिस बीज को प्रतिमुखसन्धि में कभी बनता और कभी मुरझाता (लक्ष्यालक्ष्य रूप में) देखा गया है, क्योंकि वह बहुत थोड़ा फूटा है; वही बीज यहाँ आकर विशेष रूप से फूट पड़ता है। किन्तु फललाभ निश्चित नहीं है, इसमें कभी तो विच्छेद (विघ्न) होता है, फिर से उसकी प्राप्ति होती है, फिर वियोग (विच्छेद) हो जाता है, और इस प्रकार बार-बार उसी की खोज की जाती है। यहाँ प्राप्ति की सम्भावना तो होती है, किन्तु फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यह गर्भसन्धि की विशेषता है। यहाँ पताका का होना आवश्यक नहीं है।

इसका निर्देश 'पताका हो या न हो' (पताका स्यान्न वा) इसके द्वारा किया गया है। प्राप्तिसंभव तो होना ही चाहिए इसकी सूचना 'स्यात्' के द्वारा की गई है। जैसे रत्नावली के तीसरे अङ्क में वत्सराज की फलप्राप्ति में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न होता है, किन्तु सागरिका के अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचन सुनकर राजा को प्राप्ति की आशा हो जाती है। पहले वासवदत्ता उसमें विच्छेद उपस्थित करती है, फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद हो जाता है। फिर विघ्न के निवारण के उपाय तथा फल-हेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की व्यञ्जना राजा की इस उक्ति से होती है—'मित्र, अब वासवदत्ता को मनाने के अलावा और कोई उपाय नहीं है।'

इस गर्भसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम, आक्षेप, इन अङ्गों के लक्षण (आगे) बताये जाते हैं।

जहाँ छद्म या कपट हो वहाँ अभूताहरण होता है। ([illegible]

मात्यो यौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया ।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्तकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।

अथ मार्गः—

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए । ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या ।') राजा—वयस्य कुशलं प्रियायाः । विदूषकः—अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।') राजा—दर्शनमपि भविष्यति । विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो । ('कथं न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः ।') राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषकः—(कर्णे कथयति) एव्वम् ।' ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति ।

अथ रूपम्—

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

अभिसरण करती है; इस छद्म की सूचना प्रवेशकी द्वारा विदूषक तथा काञ्चनमाला बनी हुई सुसंगता के कथनोपकथन से दी गई है—

'हे अमात्य वसन्तक तुम बड़े कुशल हो । इस संधि-विग्रह की चिन्ता के द्वारा तुमने अमात्य यौगन्धरायण को भी जीत लिया ।'

जहाँ निश्चित तत्त्व का (अर्थप्राप्ति रूप तत्त्व का) कीर्तन हो, वह मार्ग है । (यहाँ नायकादि के प्रति किसी शुभचिन्तक पात्र के द्वारा प्राप्ति के मार्ग की सूचना दी जाती है ।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के वेष में सागरिकाभिसरण की सूचना देकर, विदूषक सागरिकासमागम का निश्चय राजा को दिला देता है । इस प्रकार तत्त्वार्थनिवेदन के कारण निम्न पङ्क्तियों में मार्ग नामक गर्भाङ्ग है ।

'विदूषक—बड़ी खुशी की बात है, तुम्हारी कार्यसिद्धि के ईप्सित ढङ्ग से पूर्ण होने से तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।

राजा—वयस्य, प्रिया कुशल तो है ।

विदूषक—शीघ्र ही खुद ही देखकर सारी बात जान लोगे ।

राजा—क्या दर्शन भी होगा ।

विदूषक—(घमण्ड से) क्यों नहीं होगा, जब तुम्हारा मुझ जैसा मंत्री है, जिसने बृहस्पति के बुद्धिवैभव को भी तुच्छ समझ कर हँस दिया है ।

राजा—फिर जरा किस ढंग से यह होगा, इसे सुनना चाहता हूँ ।

विदूषक—(कान में कहता है) ऐसे ।'

जहाँ प्राप्ति की प्रतीक्षा करते समय नायकादि तर्कवितर्कमय वाक्यों का प्रयोग करें उसे रूप कहते हैं । (प्राप्ति की प्रतीक्षा में कभी-कभी यह भी डर बना रहता है कि कहीं कोई

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातस्तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।

अथोदाहरणम्—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो आसि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सादि त्ति तक्केमि ।' ('ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः—

भावः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा—

मिलन उपस्थित न हो जाय, इस विविध विचार की सूचना रूप में होती है।) जैसे रत्नावली में यह वितर्क कि कहीं वासवदत्ता ने इस बात को न जान लिया हो, रत्नावली समागम की प्राप्त्याशा का ही साहाय्य प्रतिपादित करता है। यह वितर्करूप इन पंक्तियों में सूचित है।

'राजा—अपनी गृहिणी (पत्नी) के समागम से परिभावित कामी मनुष्य का नये व्यक्ति (नई प्रेमिका) के प्रति किसी दूसरे ही ढंग का पक्षपात होता है, जैसे—यद्यपि (छिप कर) संकेत स्थल में अभिसरणार्थ आई हुई प्रेमिका, शङ्कित होने के कारण नायक के मुख की ओर प्रेमभरी नजर से नहीं देख पाती; कण्ठ से आलिङ्गन करते समय प्रेम से स्तनों की ओर से छाती से नहीं सटाती, तथा बड़ी कोशिश से रोके जाने पर भी बार-बार 'मैं जाती हूँ' इस तरह जाने का डर दिखाती है; तथापि वह कामी मनुष्य को अत्यधिक सुख पहुँचाती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

उत्कर्ष या उन्नति से युक्त वाक्य उदाहृति या उदाहरण कहलाता है। जैसे रत्नावली में विदूषक रत्नावली प्राप्ति की बात को कौशाम्बीराज्य-लाभ से भी बढ़कर बताता है, अतः [illegible] वाक्य के उत्कर्ष होने से उदाहरण का सूचक है—

'विदूषक—(हर्ष के साथ) हा, हा, मेरे पास से प्रियवचन सुन कर मुझे [illegible] प्रसन्नता होगी, उतनी कौशाम्बी के राज्य लाभ से भी न हुई होगी।'

जहाँ प्राप्ति (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) का चिन्तन किया जाय, मानो वह वस्तु प्राप्त हो जाय वहाँ क्रम नामक गर्भसन्धि का अङ्ग होता है। जैसे रत्नावली में [illegible]

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ वाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए ! एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि । ता निवेदेमि से तुह्यागमणम् ।' ('भवति सागरिके ! एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

—भावज्ञानमथापरे ॥ ३९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके !

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥'

इत्यादिना 'इह्न तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।

वत्सराज सागरिका के समागम की अभिलाषा ही कर रहा था, कि भ्रान्त सागरिका (सागरिका के रूप में वासवदत्ता) आ जाती है, अतः क्रम है ।

'राजा—प्रियासमागम के उत्सव के नजदीक आ जाने पर भी मेरा चित्त इतना ज्यादा बेचैन क्यों हो रहा है । अथवा, कामदेव की तीव्र पीड़ा आरम्भ में उतना नहीं सताती जितना इष्ट वस्तु के आने के काल के नजदीक होने पर । (सच है) बादलों के बरसने के पहले का दिन बरसात में बहुत तपा करता है ।

विदूषक—(सुन कर) अरी सागरिके, यह प्रियवयस्य तुम्हें ही उद्देश करके बड़े उत्कण्ठित ढंग से चिन्ता कर रहा है । इसलिये, मैं तुम्हारे आगमन की सूचना इसे दे देता हूँ ।'

दूसरे लोगों के मत से क्रम की परिभाषा भिन्न है । **वे (दूसरे लोग) भाव के ज्ञान को क्रम मानते हैं ।** (इस मत के अनुसार जहाँ दूसरे पात्र के द्वारा नायकादि के भाव का ज्ञान हो जाय, वहाँ क्रम होता ।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता (जो सागरिका की जगह स्वयं सङ्केत स्थल पर आ जाती है) निम्न पद्य से वत्सराज उदयन के रत्नावली विषयक अनुराग-भाव को जान जाती है अतः क्रम है ।

राजा—(नजदीक जाकर) प्रिये सागरिके, तेरा मुख चन्द्रमा है; तुम्हारी दोनों आँखें कमल हैं; तुम्हारे दोनों करतल पद्म के समान हैं, तुम्हारी दोनों जाँघें केले के गर्भ के सदृश हैं; और तुम्हारे दोनों हाथ (बाजू) मृणाल के समान हैं । इस तरह तुम्हारे सारे अङ्ग (मुझे) आह्लाद देने वाले हैं; हे आह्लादकराखिलांगि, आओ, आओ, निःशङ्क और शीघ्रता से मेरा आलिङ्गन कर कामताप से पीड़ित मेरे अङ्गों को शान्त करो । × × × 'इस बिम्बाधर में वह भी मौजूद है ही ।'

अथाधिवलम्—

अधिबलमभिसंधिः—

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सरणं करेमि ('भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधीयमानत्वादधिबलमिति।

अथ तोटकम्—

—संरब्धं तोटकं वचः ॥ ४० ॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता–(उपसृत्य) अज्जउत्त ! जुत्तमिणं सरिसमिणम्।' (पुनः सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कंचणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणं। एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि।' ('आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम्। आर्यपुत्र उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्या सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् एतामपिदुष्टपासेन बन्धिअ आणेहि एणं दुट्ठकन्यकामग्रतः कुरु।') इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम्।

यथा च वेणीसंहारे—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्'

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः'

जहाँ किन्हीं पात्रों के द्वारा नायकादि का अभिप्राय जान लिया जाय, वहाँ अधिबल होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता व काञ्चनमाला सागरिकाभिसरण की बात जान कर सागरिका तथा सुसंगता का वेष बनाकर संकेत-स्थल (चित्रशाला) को जाती हैं। यहाँ वे दोनों राजा व विदूषक से मिलती हैं तथा उनका अभिप्राय जान लेती हैं, अतः अधिबल है। काञ्चनमाला की इस उक्ति से इसकी सूचना दी गई है।

'भट्टिणि' यह वह चित्रशाला है। तो मैं वसन्तक को संकेत करती हूं।' (ताली का संकेत देती है।)

क्रोध से युक्त वचन तोटक कहलाता है। जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम में विघ्न उपस्थित करते हुए वासवदत्ता क्रुद्ध वचन के द्वारा उदयन की इष्टप्राप्ति को अनिश्चित बना देती है। अतः यह तोटक है। वासवदत्ता की इस उक्ति में तोटक है—'(आगे बढ़कर) आर्यपुत्र,

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽविबलं बुधाः ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥'

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा–प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त ! मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति ।' '(आर्यपुत्र मैवं भण । अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।)'

यथा च वेणीसंहारे—'राजा–अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य । पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण । ('कुशलं शरीरमात्रकेण ।') राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः । पुरुषः – देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । ('देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य मनोरथः') राजा–(ससंभ्रमम्) कथम् ।' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति ।

अथोद्वेगः—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि ।' ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न

सोवोगे' इस उक्ति से लेकर 'जब तक मैं आयुध धारण किये हूँ, तब तक दूसरे आयुधों से क्या लाभ' इस उक्ति तक पाया जाता है ।

दूसरे नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में अविबल व तोटक दोनों के लक्षण भिन्न बताये गये हैं । इन विद्वानों के मतानुसार तोटक का उलटा ही अविबल है । दशरूपककार के मत से क्रुद्धवचन तोटक है, अतः क्रुद्धवचन का उलटा विनीत व दीन वचन, अविबल है । ये दूसरे नाट्यशास्त्री दीन वचनों को अविबल मानते हैं, जैसे रत्नावली में राजा की इस उक्ति में—

देवि, इस तरह मेरे अपराध के प्रत्यक्ष देख लेने पर मैं क्या अर्ज कर सकता हूँ । हे देवि लज्जित होकर मैं अपने सिर से तुम्हारे दोनों पैरों के अलक्तक (लाक्षा) की ललाई को हटा रहा हूँ । (पोंछ रहा हूँ) । लेकिन कोप रूपी ग्रहण से पैदा हुई पूर्ण मुखचन्द्र की ललाई को मैं तभी हटा सकता हूँ, जब तुम्हारी विशेष दया मेरे प्रति हो जाय ।'

इन दूसरे पण्डितों के मत से संरब्ध (उद्विग्न) वचन तोटक है । जैसे रत्नावली में—
'राजा – प्रिये, वासवदत्ते, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।

द्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन ।' इति शङ्का । तथा '(प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः—आयता आयता कुमारः ।' इति त्रासः । इत्येताभ्यां त्रास-शङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वित. सभ्रम इति ।

अथाक्षेप.—

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यत्रोपायं पश्यामि ।' पुनः क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूता.स्मः पुनः । 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भ-बीजोद्भेदादाक्षेप. ।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एवं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढ-मूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि ।' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुर-स्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनो पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिण-मति' ।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः ।

है इनसे पाण्डवों की विजय की प्राप्त्याशा अन्वित है, अतः यहाँ संभ्रम नामक गर्भांग है, जिसकी सूचना निम्न स्थल पर हुई है ।

'(नेपथ्य में कोलाहल) अश्वत्थामा (घबराकर)—मामा, मामा, बड़े दुःख की बात है । भाई की प्रतिज्ञा के भङ्ग होने से डरा हुआ यह अर्जुन बाणों की वर्षा के साथ दुर्योधन व कर्ण का पीछा कर रहा है । भीम ने सचमुच दुःशासन का खून पी ही लिया । यहाँ अश्वत्थामा को शंका हो रही है कि भीम कहीं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर ले । इसी के आगे जब चोट खाया हुआ दुःशासन का सारथि अश्वत्थामा के पास आकर उसे बचाने को कहता है—'कुमार दुःशासन की रक्षा करो, उसे बचाओ', तो त्रास की अभिव्यंजना होती है ।

जहाँ गर्भ एवं बीज, अथवा गर्भ के बीज का उद्भेद हो, जहाँ बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाय' वहाँ आक्षेप कहलाता है । जैसे रत्नावली में राजा की निम्न उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि सागरिका प्राप्ति वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही आश्रित है । इसके द्वारा उदयन गर्भ बीज को प्रकट कर देता है, अतः यहाँ आक्षेप है ।

'राजा—मित्र अब देवी वासवदत्ता को मनाने के अलावा मुझे कोई उपाय नजर नहीं आता । × × × देवी के प्रसन्न होने के बारे में हमें बिल्कुल आशा नहीं रही है × × × तो यहाँ खड़े रहने से क्या फायदा । जाकर महादेवी को ही क्यों न प्रसन्न करूँ ।

और जैसे वेणीसंहार में, सुन्दरक की निम्न उक्ति के द्वारा बीज की फलोन्मुखता का आक्षेप कर उसे प्रकट कर दिया गया है—'अथवा मैं ईश्वर को क्यों दोष दूँ । यह तो उसी षड्यन्त्र रूपी विषवृक्ष का फल पक रहा है, जिसका बीज विदुर के वचनों की अवहेलना करना था, जिसका अंकुर भीष्मपितामह के हितोपदेश का तिरस्कार था, जो शकुनि के प्रोत्साहन की जड़ पर टिका था एवं जिसका फूल द्रौपदी के बालों को पकड़ना था ।'

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषां च मध्ये-ऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंधिरुक्तः ।

अथावमर्शः—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंभ्युद्भिन्नबीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमारथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः।

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति। ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।') 'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' ('अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।') पुनः—'भो वअस्स! मा खु अण्णधा संभावेहि सा खु देवीए उज्जइणी पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' ('भो वयस्य! मा खल्वन्यथा संभावय सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी।' 'इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः।

'किसी तरह भीष्मरूपी महासमुद्र को भी पार कर लिया, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ चुकी है, कर्ण रूपी जहरीला सांप भी शान्त हो चुका, और शल्य भी स्वर्ग चला गया। इतना होने पर तथा विजय के बहुत थोड़ा रह जाने पर साहसी भीमसेन ने शीघ्रता के साथ हम सब को वाणी के द्वारा जीवन के संशय से मुक्त बना दिया है।'

इस अवमर्श संधि के अंगों का वर्णन करते हैं:—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान—अवमर्श के ये तेरह अंग होते हैं।

जहां किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाय, वहां अपवाद होता है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका के प्रति वासवदत्ताकृत व्यवहार को सुनकर वासवदत्ता के दोष का वर्णन करता है, अतः यहां अपवाद है।

'सुसंगता—उन्हें उज्जैन ले जाया जा रहा है इस तरह की अफवाह उड़ा कर देवी वासवदत्ता के द्वारा आधी रात के समय पता नहीं वह बेचारी (सागरिका) कहां ले जाई गई।'

विदूषक (घबराकर)—देवी ने बड़ी कठोरता की है। ××× हे मित्र, कोई दूसरी बात न समझना, वह तो सचमुच देवी ने उज्जयिनी भेज दी है, इस लिये यह समाचार अप्रिय है ऐसा हमने कहा है।

राजा—अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।'

और जैसे वेणीसंहार में निम्न वार्तालाप में दुर्योधन के दोषों का वर्णन है, अतः अपवाद नामक अवमर्शांग है।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषां च मध्ये-ऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसंधिरुक्तः ।

अथावमर्शः—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः [1]सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंभ्युद्भिन्नबीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

ये गर्भसन्धि के बारहों अंग प्राप्त्याशा के पोषक तथा प्रदर्शक के रूप में निबद्ध होने चाहिएँ। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप प्रमुख हैं; बाकी का यथासंभव प्रयोग हो सकता है । यहाँ तक गर्भसन्धि के अङ्गों का वर्णन किया गया ।

जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से जहाँ फल प्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय; तथा जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रगट कर (फोड़) दिया गया हो, वहाँ अवमर्श संधि कहलाती है ।

'अवमर्श' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'मृश्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ वही है जो इसके 'ल्युट्' वाले रूप अवमर्शन का है। दोनों का अर्थ है विचार, विवेचन या पर्यालोचन। यह फलप्राप्ति की पर्यालोचना क्रोध, व्यसन या विलोभन के द्वारा हो सकती है । 'यह चीज जरूर होगी' इस प्रकार फलप्राप्ति के निश्चय का निर्धारण जहाँ पाया जाय तथा गर्भसन्धि के द्वारा प्रकटित बीज से जहाँ सम्बन्ध पाया जाता है, वह पर्यालोचन (विमर्श) अवमर्श कहलाता है । जैसे रत्नावली के चौथे अंक में वासवदत्ता की प्रसन्नता से रत्नावली की प्राप्ति बिना किसी विघ्न के संभव है, इस विमर्श की सूचना अग्निदाह तथा उससे लोगों के भगकर डरने के वर्णन तक दी गई है ।

और जैसे वेणीसंहार में, दुर्योधन के खून से लथपथ होकर भीमसेन आता है, उस वर्णन तक विमर्श (अवमर्श) सन्धि है । यहां युधिष्ठिर नीचे के पद्य में 'जीत बहुत थोड़ी बची है' (स्वल्पावशेषे जये) के द्वारा; समस्त शत्रुओं; भीष्मादि महारथियों के वध से अब विजय निश्चित रूप से निर्धारित हो गई है, इस बात की पर्यालोचना करता है, अतः अवमर्शन दिखाया गया है:—

---

१ '[illegible]मर्शो[illegible]' इति पाठान्तरम् ।

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमारथवधादवधारितै-कान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः ।

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति । ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति ।') 'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए ।' ('अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या ।') पुनः—'भो वअस्स ! मा खु अण्णधा संभावेहि सा खु देवीए उज्जइणी पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम् ।' ('भो वयस्य ! मा खल्वन्यथा सभावय सा खलु देव्योज्जयिन्या प्रेपिता अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी ।' 'इत्यनेन वासवदत्तादोपप्रख्यापनादपवादः ।

'किसी तरह भीष्मरूपी महासमुद्र को भी पार कर लिया, द्रोणरूपी अग्नि भी बुझ चुकी है, कर्ण रूपी जहरीला सांप भी शान्त हो चुका, और शल्य भी स्वर्ग चला गया । इतना होने पर तथा विजय के बहुत थोड़ा रह जाने पर साहसी भीमसेन ने मंझना के साथ हम सब को वाणी के द्वारा जीवन के संशय से मुक्त बना दिया है ।'

इस अवमर्श संधि के अंगों का वर्णन करते हैं:—अपवाद, संफेद, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान—अवमर्श के ये तेरह अंग होते हैं ।

जहां किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाय, वहां अपवाद होता है । जैसे रत्नावली में राजा सागरिका के प्रति वासवदत्ताकृत व्यवहार को सुनकर वासवदत्ता के दोष का वर्णन करता है, अतः यहां अपवाद है ।

'सुसगता—उन्हें उज्जैन ले जाया जा रहा है इस तरह की अफवाह उडा कर देवी वासवदत्ता के द्वारा आधी रात के समय पता नहीं वह बेचारी (सागरिका) कहां ले जाई गई ।'

विदूषक (घबराकर)—देवी ने बडी कठोरता की है । × × × हे मित्र, कोई दूसरी बात न समझना, वह तो सचमुच देवी ने उज्जयिनी भेज दी है, इस लिये यह समाचार अप्रिय है ऐसा हमने कहा है ।

राजा—अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बडी निष्करुण है ।'

और जैसे वेणीसंहार में निम्न वार्तालाप में दुर्योधन के दोषों का वर्णन है, अतः अपवाद नामक अवमर्शांग है ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालकः—न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्श-पातकप्रधानहेतुरुपलब्धः । इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अथ संफेटः—

—संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैवं विषादं कृथाः—पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहाय इति ।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान्धार्तराष्ट्रः—

कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ।

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तारितघोरसङ्ग्रामौ—'इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति ।

अथ विद्रवः—

विद्रवो वधबन्धादिः—

'युधिष्ठिर—पांचालक, क्या उस नीच कौरव दुर्योधन के मार्ग का पता चला ।

पांचालक—उसका मार्ग ही नहीं; देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श रूपी पाप का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वयं भी पा लिया गया है ।

रोष से युक्त बातचीत (रोषभाषण) संफेट नामक विमर्शाङ्ग है । जैसे वेणीसंहार में निम्न उक्तियों में भीमसेन तथा दुर्योधन के रोष संभाषण के कारण संफेट है । यह रोषसंभाषण पाण्डवों की भावी विजय से अन्वित है ।

'भीम—ए कौरवराज, भाई के नाश के कारण उत्पन्न शोक व्यर्थ है । इस तरह शोक मत करो कि पाण्डव युद्ध में सबल हैं और मैं असहाय हूं ।

'हे दुर्योधन, हम पांचों में से जिस किसी को तुम अच्छा लड़ाका समझो, कवच धारण किये हुए तथा शस्त्रों से युक्त उसी के साथ तुम्हारा द्वन्द्व युद्ध रूपी उत्सव हो जाय' ।

(इसे सुनकर दुर्योधन भीम व अर्जुन दोनों की ओर असूयाभरी दृष्टि डाल कर (भीम से) कहता है—)

यथा छलितरामे—

'येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमः प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥'

यथा च रत्नावल्याम्—

'हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥'

इत्यादि । पुनः वासवदत्ता—'अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि ।' ('आर्यपुत्र ! न खल्वह-मात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रव.—

—द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते—

'वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।

'जिस लव ने बचपन में सामवेद पढ़ते हुए तुम्हारे मुँह को बन्द करके बहुत तकलीफ दी थी, जिसने अक्षसूत्रों की माला को छिपाकर फिर से वापस देकर खेल किया था; वह तुम्हारा हृदय—यह लव, जिसका वक्षःस्थल तीरों से बिंध गया है और जो मूर्च्छा के अन्धकार के कारण बेबस हो गया है, बाँधकर ले जाया जा रहा है ।'

और जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के बन्धन, मरण की आशंका, तथा अग्निरूप भय के वर्णन के कारण निम्न स्थल में विद्रव नामक विमर्शांग है ।

'जो अपनी लपटों के किनारों से जैसे महलों के सोने के कँगूरों की शोभा को धारण कर रहा है, जो अपने तीव्र ताप की सूचना घने बाग के पेड़ों के अग्र भाग को झुलसाकर दे रहा है; ऐसा अग्नि एकदम अन्तःपुर में फैल गया है । इसके धुएँ से क्रीडापर्वत पानी से भरे बादलों के समान काला हो गया है; तथा इसके ताप से अन्तःपुर की स्त्रियाँ भयभीत हो उठी हैं ।'

वासवदत्ता—'आर्यपुत्र, मैं अपने लिए नहीं कहती, निष्करुण मेरे द्वारा बन्दी बनायी हुई यह सागरिका मर रही है (जल रही है) ।'

जहाँ बड़े व्यक्तियों (गुरुओं) का तिरस्कार हो, वहाँ द्रव नामक विमर्शांग होता है—
जैसे उत्तररामचरित में निम्न पद्य में लव पूज्य रामचन्द्र का तिरस्कार करता है अतः द्रव है—

'वे बड़े लोग हैं, अतः उनके चरित्र की चर्चा करना ठीक नहीं । कैसे भी हों रहने दो । ताड़का (सुन्द की स्त्री) के मारने पर भी अखण्डित यशवाले वे लोग महान् हैं । खर के साथ युद्ध करते

यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥'

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्यैव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥'

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।

समय मुँह को बिना फेरे ही जो पीछे तीन कदम रखे गये और वालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल दिखाया गया, उसे भी सभी लोग जानते हैं ।'

और जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर पूज्य बलभद्र का तिरस्कार करता है, अतः द्रव है—

'भगवन् कृष्णाग्रज, सुभद्रा के भाई, बलराम ! न तो तुमने जाति की प्रीति का ही विचार किया, न क्षत्रियधर्म ही का विचार किया । तुम्हारे छोटे भाई कृष्ण का अर्जुन के साथ जो प्रेम है, जो मित्रता है, उसका भी कोई खयाल नहीं किया । ठीक है, पर तुम्हारा दोनों शिष्यों (भीम व दुर्योधन) के साथ समान स्नेह होना चाहिए । फिर यह कौन-सा बर्ताव है कि तुम मुझ मन्दभाग्य के प्रति इस तरह नाराज हो ।'

विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है । जैसे रत्नावली में निम्न पद्य में सागरिकालाभ का विरोध करनेवाली वासवदत्ता के क्रोध की शान्ति का संकेत मिलता है, अतः यह शम है ।

'झूठी शपथों से, प्यारे वचन से, अधिक प्रेम के बर्ताव से, अत्यधिक लज्जा से, पैरों पर गिरने से तथा बार-बार सखियों के वचनों से देवी वासवदत्ता वैसी प्रसन्न न हो सकी, जैसा उसने स्वयं रोकर अपने आँसू के पानी से धोकर ही क्रोध को निकाल दिया ।'

और जैसे उत्तररामचरित में राम को देखकर लव कहता है—

'मेरा विरोध शान्त हो गया है, एक शान्त सघन-रस जैसे हृदय में फैल रहा है, वह

झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥

अथ द्युतिः—

—तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितमुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥'

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ।

अथ प्रसङ्गः—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्याम्—'देव याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती

उद्धतता पता नहीं कहाँ चली गयी है, विनम्रता मुझे झुका रही है। यदि इन्हें देखते ही मैं एकदम पराधीन हो गया हूँ तो बड़े व्यक्तियों का प्रभाव ठीक उसी तरह महार्घ अथा महत्त्वपूर्ण होता है, जैसे पवित्र स्थानों का।'

किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना द्युति कहलाता है। जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्वचन तथा जलावलोडन (सरोवर के पानी के मथने) से दुर्योधन को भयभीत (तर्जित तथा उद्वेजित) करता है, तथा ये तर्जन व उद्वेजन एक ओर दुर्योधन के पानी से बाहर निकलने के तथा दूसरी ओर पाण्डव विजय के कारण है। अतः यहाँ द्युति है। इसका संकेत इस उक्ति में है—

'कृष्ण के इस वचन को सुनकर सारे निकुञ्ज से भरी दिशाओं से घिरे सरोवर के पानी को हिलाकर, जो डरे हुए सैकड़ों जल जन्तुओं से युक्त था, तथा जिसके मगर और घड़ियाल डर से डूबते-उतराते थे, तथा जोर से गर्जना करके कुमार भीमसेन ने कहा—

अपने आपको चन्द्रमा के निर्मल कुल का वंशज कहता है, तथा अभी भी गदा धारण किये है, दुःशासन के गरम खून की शराब में मस्त मुझे शत्रु कहता है तथा घमण्ड से अन्धा होकर मधुकैटभ के शत्रु कृष्ण के प्रति भी उद्धत व्यवहार करता है, (और) रे नीच मानव, मेरे डर से युद्धभूमि को छोड़कर अब कीचड़ में छिपता है।'

जहाँ पूज्य व्यक्तियों (गुरुओं)—माता पिता आदि का संकीर्तन हो, वहाँ प्रसंग नामक विमर्शांग होता है। (अथवा जहाँ महत्त्वपूर्ण (गुरु) वस्तु की चर्चा हो, वहाँ प्रसंग होता है)।[1] जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा प्रसंग से गुरु (पूज्य, सिंहलेश्वर) का

---

१. 'गुरुकीर्तन' की व्युत्पत्ति, 'गुरूणां कीर्तनं' भी हो सकती है, 'गुरु च तत् कीर्तनं' भी हो

वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्ण-लोभेण वावादिद त्ति ।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते एतेन। किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति।')

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ।

अथ छलनम्—

—छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

संकीर्तन करता है (अथवा राजा के प्रति महत्त्वपूर्ण समाचार कहता है), इस 'गुरु-कीर्तन' के द्वारा रत्नावली के लाभ के अनुकूल सम्बन्धियों का प्रकाशन किया गया है, अतः यह प्रसंग है—'स्वामिन्, देवी वासवदत्ता को जला हुआ सुनकर पहले से ही प्रार्थित जो रत्नावली नामक पुत्री सिंहलेश्वर ने स्वामी को दी है,...(वही यह है)।'

और जैसे मृच्छकटिक में, जब चाण्डाल चारुदत्त को वसन्तसेना के वध के दण्ड के लिए मारने को ले जा रहे हैं, तब उनकी घोषणा सुनकर चारुदत्त अपने कुल, शील तथा अभ्युदय का स्मरण कर प्रसंग से उनका कीर्तन करता है, अतः गुरुकीर्तन होने के कारण निम्न स्थल में यहाँ भी प्रसंग नामक अवमर्शांग है ।

'चाण्डाल—यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य विनयदत्त का पौत्र, चारुदत्त वध के लिये वध्यस्थान ले जाया जा रहा है । इसने सोने के लोभ से गणिका वसन्तसेना को मार दिया है ।

चारुदत्त—जो मेरा गोत्र (कुल) चैत्यों के ब्रह्मघोषों द्वारा सभा में सैकड़ों हवनों से पवित्र तथा देदीप्यमान होता था, वही आज मेरे मृत्यु की अवस्था में वर्तमान होने पर (चाण्डालों जैसे) नीच तथा पापी (अयोग्य) मनुष्यों के द्वारा घोषणा के रूप में घोषित किया जा रहा है ।'

जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा (अवमान) करे, वह छलन कहा जाता है । जैसे रत्नावली में वासवदत्ता रत्नावली-समागम में विघ्न उपस्थित करती है । इस प्रकार वह वत्सराज की ईप्सित वस्तु का सम्पादन न करने के कारण उसकी अवज्ञा करती है । अतः अवमान के कारण यहाँ छलन नामक अवमर्शाङ्ग है । इसकी व्यञ्जना राजा की इस उक्ति से होती है :—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तये-प्रासपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति।

अथ व्यवसायः—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजालिकः—

किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम्॥

अहवा किं बहुआ जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण॥'

('किं धरण्या मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम्।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिकादर्शनानुकूला स्वशक्तिमाविष्कृतवान्।

यथा च वेणीसंहारे—

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः॥'

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति।

'अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्करुण है।' अथवा जैसे रामाभ्युदय नामक नाटक में सीता को छोड़कर उसकी अवज्ञा (अपमान) की गयी है, अतः छलन है।

जहाँ कोई पात्र अपने सामर्थ्य के विषय में कहे, (जहाँ स्वशक्त्युक्ति पायी जाय), वहाँ व्यवसाय नामक अवमर्शाङ्ग होता है। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजालिक झूठा आग फैला कर वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट करता है। इसकी सूचना इन दो गाथाओं से हुई है। ऐन्द्रजालिक की उक्तियाँ हैं:—

'आज्ञा दीजिये, क्या मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग, और मध्याह्न के समय प्रदोष (रात्रि का प्रारम्भ) दिखा दूँ। अथवा मैं ज्यादा डींग क्यों मारूँ। मेरी प्रतिज्ञा यह है, मैं हृदय से कह रहा हूँ; आप जो कुछ देखना चाहते हैं, गुरुजी के मन्त्र के प्रभाव से मैं वही आपको दिखा सकता हूँ।'

और जैसे वेणीसंहार के निम्न पद्य में, युधिष्ठिर भीम की वीरता का वर्णन करते हुए अपनी दण्डशक्ति को प्रकट कर रहे हैं:—

'प्रतिज्ञा के पूर्ण न होने के डरवाले उस वीर भीमसेन के द्वारा आज तुम्हारा यह जूड़ा

अथ विरोधनम्—

—संरब्धानां विरोधनम् ।

यथा वेणीसंहारे—'राजा—रे रे मरुत्तनय ! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥

(केशपाश) जरूर बाँधा जायगा ।[1] और वह इसके पूर्ण करने में पूर्णतया समर्थ है ।'

जहाँ क्रुद्ध पात्रों द्वारा परस्पर स्वशक्ति का प्रकटीकरण हो, वहाँ विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग होता है । (यहाँ मूल के 'संरब्धानां' के साथ ४७ वीं कारिका के प्रथम चरण का 'स्वशक्त्युक्तिः' पद अनुवर्तित हो जाता है ।) जैसे वेणीसंहार के निम्न स्थल में क्रुद्ध भीम और दुर्योधन दोनों अपनी-अपनी शक्ति को वचनों द्वारा प्रकट करते हैं, अतः विरोधन है ।

'राजा (दुर्योधन)—रे वायु के पुत्र, इस तरह बूढ़े राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों करता है ? और भी—

तेरी, तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की और उन दोनों की स्त्री को, उस द्यूत में जीती हुई दासी (द्रौपदी) को, लोक के स्वामी मेरी आज्ञा से राजाओं के सामने पकड़ कर खींचा गया । इस वैर में बता तो सही उन राजाओं ने तेरा क्या विगाड़ा था, जो युद्ध में मारे गये । दोनों भुजाओं के अतिशय बलरूपी धन के भारी मदवाले मुझे जीते बिना ही (इतना) घमण्ड ?

(भीम गुस्से का अभिनय करता है) अर्जुन—आर्य, प्रसन्न हों, क्रोध करना व्यर्थ है ।

यह दुर्योधन वाणी से हमारा अप्रिय (बुरा) कर रहा है, कर्म से बुरा करने में यह अशक्त है । सौ भाइयों के मरने के कारण यह दुःखी है, इसके प्रलाप से हमें कोई दुःख (क्रोध) नहीं ।

भीम—अरे भरतकुलकलङ्क ! हे कटुप्रलापिन्, क्या मैं तुझे आज ही दुःशासन के अनुगमन

---

१. यहाँ मूल में 'वध्यते' पाठ है; किन्तु यहाँ वर्तमान का प्रयोग निकटवर्ती भविष्य के अर्थ में हुआ है—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ।'

---

१. 'संरम्भोक्तिः' इत्यपि पाठः ।

अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वा रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥'

इत्यादिना सरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिविरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ४७ ॥

यथा वेणीसंहारे—'पाञ्चालकः—अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥'

के लिए न भेज दूँ (मैं तुझे आज ही अवश्य मार डालूँ) ? काश ! मेरे हाथों के अग्रभाग के द्वारा तोड़ी जानेवाली शब्द करती हुई हड्डियोंवाले तेरे शरीर में पूज्य धृतराष्ट्र व गांधारी विघ्न न करते । और भी मूर्ख, तुम्हारे कुलरूपी कमलिनी को नष्ट करनेवाले हाथी, भीमसेन के क्रुद्ध होने पर (भी) तुझ जैसे दुष्ट राजा के जीवित रहने का कारण यह है कि तूने अपने भाई के वक्षःस्थल को फटते समय साक्षी होकर देखा और औरतों की तरह आँसुओं के द्वारा शोक का त्याग कर दिया ।

राजा—दुष्ट भरतकुलापसद नीच पाण्डव, अरे तेरी तरह मैं डींग मारनेवाला नहीं हूँ, किन्तु—तेरे बान्धव अब जल्दी ही तुझे युद्धभूमि में सोया हुआ देखेंगे । तेरा वक्षःस्थल और हड्डियों का ढाँचा मेरी गदा से टूटा हुआ होगा और उस दशा में तू बड़ा भीषण प्रतीत होगा ।'

जहाँ कोई सिद्ध व्यक्ति अपने वचनों के द्वारा भावी घटना की सूचना इस तरह दे, जैसे वह सिद्ध हो, वहाँ प्ररोचना नामक अवमर्शाङ्ग होता है । जैसे वेणीसंहार में पाञ्चालक (दूत) युधिष्ठिर के पास आकर भगवान् कृष्ण का वचन सुनाता है कि भीम की विजय में कोई संदेह नहीं और बाद में सेवकों को आज्ञा देता है कि महाराज युधिष्ठिर ने जय के उपलक्ष में मंगल-कार्यों के करने की आज्ञा दी है । इसके द्वारा द्रौपदी के केश-संयमन तथा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक रूप दो भावी घटनाओं की सूचना सिद्ध रूप में दी गयी है। अतः यहाँ प्ररोचना है । पाञ्चालक की उक्ति का निम्न अंश इसकी सूचना देता है:—

'चक्रपाणि भगवान् कृष्ण ने मुझे आज्ञा दी है × × सन्देह की आवश्यकता नहीं । तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जल से पूर्ण हों । द्रौपदी अधिक दिनों से बिखरे हुए केशों को बाँधने

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

अथ विचलनम्—

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—'भीमः—तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥'

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥'

के लिए उत्सव मनाये । तीक्ष्ण परशु के द्वारा ज्वलन्त हाथवाले, क्षत्रियरूपी वृक्ष को उखाड़नेवाले, परशुराम तथा क्रोध से अन्धे भीमसेन के युद्ध में उतरने पर सन्देह का अवकाश ही कहाँ ?'

जहाँ कोई पात्र आत्मश्लाघा करे तथा डींग मारे, वहाँ विचलन नामक विमर्शांग होता है। जैसे वेणीसंहार में भीम अपने गुणों का आविष्कार कर डींग मारता है, अतः यहाँ विचलन है:—

'भीम—तात, माता, जिस कर्ण में, तुम्हारे पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीत लेने की आशा बँधी हुई थी, जिसके घमण्ड के द्वारा सारा संसार तिनके की तरह तुच्छ समझा गया था, उसी राधा के पुत्र कर्ण को युद्धभूमि में मारनेवाला, यह मध्यम पाण्डव (अर्जुन) आप दोनों (धृतराष्ट्र व गांधारी) माता-पिताओं को प्रणाम कर रहा है ।

और भी तात, जिसने सारे कौरवों को चूर्णित कर दिया है, जो दुःशासन के खून से मत्त हो रहा है; तथा जो सुयोधन की जाँघों को (जल्दी ही) तोड़नेवाला है, वह भीम सिर के द्वारा तुम्हारी पूजा करता है (तुम्हें प्रणाम करता है) ।'

और जैसे रत्नावली में, यौगन्धरायण निम्नलिखित उक्ति में, वत्सराज के प्रति मेरा कितना उपकार है, इस बात की व्यंजना कराते हुए अपने गुणों का कीर्तन करता है, अतः विचलन नामक विमर्शांग है:—

'मेरे वचन में विश्वास कर देवी वासवदत्ता ने पति के वियोग को प्राप्त किया, और फिर महाराज को (नयी) पत्नी दिलाकर मैंने उसे दुःखित बना दिया। कुछ भी हो, स्वामी

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

अथादानम्—

—आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः !

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिठ्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम् ।' ('दिष्ट्या समन्तात् प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्' ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः' इति दर्शितमेवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

वत्सराज की जगत्-स्वामित्व-प्राप्ति उसे अवश्य प्रसन्न करेगी, यह सच है; फिर भी लज्जा के कारण मैं उसे (देवी को) अपना मुख नहीं दिखा सकता।' × × × 'मैंने वत्सराज के लिए ऐसा कन्या-लाभ कराया, जो संसार के स्वामित्व को दिलानेवाला है।'

जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की कामना से नाटक या रूपक की वस्तु के कार्य को संगृहीत करता है अर्थात् समेटने की चेष्टा करता है, तो वह अवमर्शांग आदान कहलाता है।

जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन को मारकर लौटता हुआ भीम निम्नलिखित उक्ति के द्वारा समस्त शत्रुओं के वधरूपी कार्य का समाहार करता है, अतः आदान है।

'अरे हे समन्तपञ्चक में घूमनेवाले, मैं न तो राक्षस हूँ, न भूत ही। मैं तो वह क्रोधी क्षत्रिय हूँ, जिसके अंग शत्रु के खूनरूपी जल में आप्लुत हो चुके हैं और जो महती प्रतिज्ञा के समुद्र को पार कर चुका है। हे युद्धरूपी अग्नि की ज्वाला में जलने से बचे हुए वीर राजाओं, तुम्हारा यह भय व्यर्थ है, जिससे तुम मरे हुए हाथी व घोड़ों की आड़ में छिपकर बैठे हुए हो।'

और जैसे रत्नावली में दुःखी सागरिका जलती आग को देखकर यह समझती है कि उसके दुःख का अवसान हो जायगा। यहाँ दुःखावसानरूप कार्य का संग्रह है :—'अच्छा है, चारों ओर जले हुए अग्नि देवता आज मेरे दुःख का अन्त कर देंगे।' और जैसे यौगन्धरायण की उक्ति कि राजा को जगत्स्वामित्व प्राप्त होगा।

अवमर्श के ये १३ अंग हैं। इनमें से अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना व आदान—ये पाँच अंग प्रमुख हैं।

अथ निर्वहणसंधिः—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे वर्धसे, अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः ।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूतिः—(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ।

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो अब तक इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्वहण-संधि होती है ।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश-संयमन, दुर्योधन-वध आदि मुखसंधि आदि के बीजों को, जो अब तक नाटक में अपनी-अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक लक्ष्य की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर खुशी से) महाराज की विजय हो, सुयोधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आ रहे हैं ।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का जो मुखसन्धि आदि में इधर-उधर छिटके पड़े थे, वत्सराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है । इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को देखकर एक ओर) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है ।

इस निर्वहण-संधि के १४ अंग हैं:—संधि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति ।

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो वह सन्धि नामक निर्वहणांग होता है । जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं । यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गयी है, अतः सन्धि है । वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह बातचीत इसकी सूचक है :—

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश है ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः ॥'

अथ विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति । वासवदत्ता—अज्जउत्त ! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि । ('आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगंधरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते ।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति ।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोध' ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम.—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः—

'बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है ।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रँगे हाथों द्रौपदी का केश-संयमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिज्ञा याद दिलाता है । यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज को फिर से उद्भावित किया गया है, अतः सन्धि नामक निर्वहणाङ्ग है :—

'यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदी ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें याद है ?

चञ्चल हाथों से घुमायी गयी गदा के प्रहारों से टूटी जाँघोंवाले दुर्योधन के घने चिकने खून से रँगे हाथोंवाला भीम तुम्हारे बालों को सँवारेगा ।'

जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं । जैसे—रत्नावली के चतुर्थ अंक में वसुभूति व बाभ्रव्य सागरिका को पहचान-कर उसके विषय में उदयन से पूछते हैं, यहाँ निम्न वार्तालाप के द्वारा रत्नावली रूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विबोध नामक निर्वहणाङ्ग है :—

'वसुभूति—(देखकर) देव, यह कन्या कहाँसे आयी है ?'

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्रसे पायी गयी है, इतना कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंप दी है, इसलिए इनका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है) ।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है) ?'

और जैसे वेणीसंहार में, भीमसेन द्वारा द्रौपदी के केश-संयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः षष्ठ अंक के निम्न स्थल में विबोध है :—

'भीम—आर्य मुझे क्षणभर के लिए छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?'

किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासन-शोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद्ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद्ग्रथनम्।

अथ निर्णयः—

—ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति, तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चि-

---

भीम—सबसे बड़ी चीज रह गयी है। मैं दुःशासन के खून से रंगे हाथ से दुःशासन द्वारा खींचा गया द्रौपदी का जूड़ा तो बाँध दूँ।

युधिष्ठिर—आप जाइये, तपस्विनी द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करे।'

उस कार्य का उपसंहार (उपक्षेप) करना ग्रथन कहलाता है। 'ग्रथन' के अन्तर्गत नाटककार अपने समस्त कार्य को एक स्थान पर समाहृत कर देता है। जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण की निम्न उक्ति वत्सराज के कार्य रत्नावली-लाभ का उपसंहार कर देती है :—'स्वामिन्, मैंने यह कार्य आपसे निवेदन किये बिना ही किया, अतः क्षमा करें।'

और जैसे वेणीसंहार में, निम्न उक्ति के द्वारा भीम द्रौपदी के वेणीसंहार रूप कार्य का समाहार करता है। अतः यहाँ भी ग्रथन नामक निर्वहणांग है :—

'पाञ्चालि, मेरे होते हुए (जीवित रहते हुए) दुःशासन द्वारा बिखरायी गयी वेणी का अपने हाथ से सँवारना ठीक नहीं। ठहरो-ठहरो। मैं खुद इसे सँवारता हूँ।'

जब नायकादि अपने द्वारा विचारित या संपादित (अनुभूत) कार्य के विषय में वर्णन करते हैं, तो यह निर्णय कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा कार्य से संबद्ध अपने अनुभवों को, या कार्यसंबद्ध अपने कार्यों को राजा से वर्णित करता है, अतः यहाँ निर्णय है।

'यौगंधरायण—(हाथ जोड़कर) देव, सुनिये, सिद्ध व्यक्ति ने इस सिंहलेश्वर पुत्री रत्नावली के बारे में यह कहा था कि जो कोई इसका पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा बनेगा। उस सिद्धादेश के विश्वास के कारण आपके लिए हमने कई बार उसकी माँग सिंहलेश्वर से की, लेकिन सिंहलेश्वर ने वह इसलिए न दी कि ऐसा करने से वासवदत्ता के चित्त को दुःख होगा। तब हमने झूठे ही यह खबर फैला दी कि देवी वासवदत्ता लावाणक (वन) में जल गयी और फिर बाभ्रव्य को सिंहलेश्वर के समीप (रत्नावली को माँगने के प्रस्ताव के साथ) भेजा।'

त्खेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः ।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातशत्रो ! क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति ।

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम् । (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्) 'वासवदत्ता–(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे ! इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि । (अपवार्य) अज्जउत्त ! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणम् । ('एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । आर्यपुत्र ! अज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम् ।') राजा—यथाह देवी । (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूतिं निर्दिश्य) अज्ज ! 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि

और जैसे वेणीसंहार में भीम की निम्न उक्ति में उसके द्वारा अनुभूत अर्थ का कथन हुआ है, अतः निर्णय है :—

'भीम—देव अजातशत्रु, अब भी नीच दुर्योधन कहाँ है, मैंने उस दुष्ट दुर्योधन के शरीर को जमीन पर फेंक दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान यह खून लगा लिया । चारों समुद्रों के जल की सीमावाली पृथ्वी के साथ राज्यलक्ष्मी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया । इस युद्ध की आग में नौकर, मित्र, योद्धा, यहाँ तक कि सारा कुरुकुल जल गया है । हे राजन्, अब तो दुर्योधन का केवल नाम भर बचा है, जिसे आप बोल रहे हैं ।'

जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाय, उसे परिभाषा कहते हैं । (यहाँ यह परस्पर जल्प-आपस की बातचीत—कार्य की सिद्धि के विषय में पायी जायगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वहणाग है ।

"रत्नावली—(स्वगत) मैंने देवी वासवदत्ता का अपराध किया है, इसलिए उसे मुँह नहीं दिखा सकती ।'

वासवदत्ता (आँसू भरकर फिर से हाथ फैलाकर) इधर आ, ओ निठुर, अब भी बन्धुस्नेह को प्रकट कर दे । (एक ओर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के कठोर व्यवहार के कारण लज्जित हूँ, इसलिए जरा इसका बन्धन तो खोल दो ।

राजा—जैसा देवी कहे । (बंधन खोलता है) ।

वासवदत्ता—(वसुभूति की ओर) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया है, जिन्होंने जानते हुए भी इस बात को नहीं कहा ।"

णाचक्खिदम् ।' ('आर्य ! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाच-क्षितम् ।')" इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन !' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान् ।' इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम् ।

अथ प्रसादः—

—प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'देव ! क्षम्यताम् ।' इत्यादिना दर्शितम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेन ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ।

अथानन्दः—

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णाति)'

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाध विसुमरिदह्मि एदं वावारं णाधस्स प्पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति)' ('नाथ ! विस्मृतास्म्येतं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि ।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।

और जैसे वेणीसंहार में भीम स्वयं ही बार-बार अपने कार्य के विषय में जल्पन करता है। अतः भीम की निम्न उक्ति में भी परिभाषा नामक निर्वहणांग है।

'भीम—जिस नीच मनुष्य दुःशासन ने तुम्हें राजाओं की सभा में घसीटा। × × × × वह भानुमती कहाँ है, जो पाण्डवों की पत्नी की हँसी उड़ाती है।'

किसी पात्र के द्वारा नायिकादि का प्रसादन (पर्युपासन) प्रसाद कहलाता है।
जैसे रत्नावली नाटिका में यौगंधरायण वत्सराज उदयन से क्षमा माँगता हुआ उसे प्रसन्न करता है—'देव, मुझे क्षमा करें।'

और जैसे वेणीसंहार में भीमसेन द्रौपदी को निम्न वाक्य के द्वारा प्रसन्न करता है। अतः प्रसाद है :—'देवि पाञ्चालराजपुत्रि, बड़ी खुशी की बात है कि शत्रुओं के नाश से तुम्हारी वृद्धि हो रही है।'

ईप्सित वस्तु की प्राप्ति होना आनंद कहलाता है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता की अनुमति मिलने पर राजा 'जैसा देवी कहें' इतना कहकर ईप्सित रत्नावली के पाणि का ग्रहण करता है।

और जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी अपने ईप्सित केशसंयमन को प्राप्त करती है, अतः आनन्द है। द्रौपदी के इस 'आनन्द' की व्यंजना इस उक्ति से हो रही है—'नाथ, मैं यह केशसंयमन का व्यापार भूल गयी हूँ, अब फिर से आपकी कृपा से सीख लूँगी।'

अथ समयः—

—समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए ।' ('समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके ।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भगवन् ! कुतस्तस्य विजयादन्यत् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥'

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः—

कृतिर्लब्धार्थशमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ? । वासवदत्ता—अज्जउत्त ! दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदि ।' ('आर्य-

---

नायकादि के दुःख का समाप्त हो जाना समय कहलाता है ।

जैसे रत्नावली में वासदत्ता रत्नावली का आलिंगन करके उससे कहती हैं—'बहन, आश्वासन रखो' । यहाँ दोनों बहनों के परस्पर मिलने से दुःख निर्गम हो गया है, अतः समय (निर्वहणांग) है ।

और जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर की निम्न उक्ति उसके दुःख की समाप्ति की द्योतक है:—

'भगवन्, कृष्ण, उस पुरुष के लिए विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, जिसके मंगलों की आशा स्वयं पुरातन पुरुष नारायण (आप) ही किया करते हैं । हे स्वामिन्, महत्तत्त्व (प्रकृति) आदि के चञ्चल करने से जिन्होंने मूर्ति को उत्पन्न किया है, (जिसके प्रकाश से चचल-क्षुब्ध-प्रकृति से सारी सासारिक मूर्तियाँ उत्पन्न हुई हैं), तथा जो गुणी है, एवं प्रजाओं (जीवों) के उदय, नाश तथा पालन के कारण हैं, उन अजर, अमर तथा अचिन्त्य परात्पर सत्ता-रूप आपका चिन्तन करके ही मनुष्य इस संसार में दुखी नहीं होता, तो फिर आपके दर्शन पाकर दुःखी कैसे हो सकता है ?'[1]

लब्ध अर्थ के शमन करने को कृति कहते हैं ।

जैसे रत्नावली में रत्नावली के प्राप्त हो जाने पर राजा को खुश करने के लिए वासवदत्ता तथा वासवदत्ता को खुश करने के लिए राजा परस्पर वचनों के द्वारा उपशमन करते हैं, अतः यहाँ कृति है ।

'राजा—देवी वासवदत्ता की कृपा की महत्ता को कौन नहीं मानेगा ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इस(रत्नावली)का नैहर दूर है, इसलिए यह जिस ढंग से अपने

---

१. सांख्य दर्शन के मतानुसार जड त्रिगुणात्मक प्रकृति पर चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने से उसमें 'क्षोभ' उत्पन्न होता है, और तब उससे महत्तत्त्व, बुद्धि, पञ्चतन्मात्रा आदि २५ तत्त्वों का विस्तार होता है, उन्हीं से क्रमशः संसार की उत्पत्ति है ।

पुत्र ! 'दूरेऽस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टय उपशमनात्कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे—'कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति।' इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः।

अथ भाषणम्—

—मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अतःपरमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम्॥'

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद्भाषणमिति।

अथ पूर्वभावोपगूहने—

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने॥ ५३॥

कार्यदर्शनं पूर्वभावः, यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि ? पडिवाएहि से

बान्धवों की याद न करे, ऐसी चेष्टा करें।'

और जैसे वेणीसंहार में, कृष्ण युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति को अभिषेक के द्वारा स्थिर करते हैं, अतः यह भी कृति है।[1] इसकी सूचना कृष्ण की यह उक्ति देती है—'ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि आदि × × × अभिषेक आरम्भ कर रहे हैं।

जहाँ नायकादि को मान आदि की प्राप्ति हो, उसका व्यञ्जक वाक्य भाषण कहलाता है।

जैसे रत्नावली में वत्सराज की यह उक्ति उसके काम, अर्थ, मान आदि के लाभ की द्योतक है।

'राजा—क्या इससे ज्यादा भी प्यारी कोई वस्तु है ?

मैंने विक्रमबाहु को अपने समान बना लिया (अथवा विक्रमबाहु के समान चक्रवर्त्तित्व प्राप्त कर लिया); तथा ससागर पृथ्वी की प्राप्ति का कारण, इस प्रिया सागरिका को (रत्नावली) जो सारे पृथ्वीतल का सार है—प्राप्त कर लिया। देवी वासवदत्ता बहन को पाकर खुश हो गयीं, कोशल राज्य को जीत लिया गया। तुम जैसे श्रेष्ठ मन्त्री के होते हुए अब कौन चीज बची रह गई है, जिसकी मैं इच्छा करूँ।

नायकादि को अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन कहलाता है, तथा कार्य का दर्शन पूर्वभाग कहलाता है। (यहाँ ५० वीं कारिका के क्रम का विपर्यय है)

पूर्वभाव का तात्पर्य कार्य का दर्शन है, जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण अपनी निम्न उक्ति

---

१. 'कृतिर्लब्धार्थशमनम्' से 'शमन' का अर्थ 'प्रसादन' तथा स्थिरीकरण दोनों लिया जा सकता है। पहले प्रसादन वाला उदाहरण है, दूसरे में स्थिरीकरण वाला।

रअणमालं त्ति ।' ('स्फुटमेव किं न भणसि ? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति ।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभाव इति ।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनं यथा वेणीसंहारे—'(नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥

युधिष्ठिरः—देवि ! एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन ।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात्कृतिरपि भवति ।

अथ काव्यसंहारः—

वराप्तिः काव्यसंहारः—

यथा—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात्काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः—

—प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

के द्वारा 'वत्सराज को रत्नावली दे दी जानी चाहिए' इस कार्य का—जिसकी अभिव्यक्ति यौगन्धरायण का अभिप्राय है—वासवदत्ता के द्वारा दर्शन होता है, अतः पूर्वभाव है ।

'यौगन्धरायण—यह जान लेने पर बहिन के बारे में क्या करना है, इस बारे में जैसी देवी की मर्जी हो ।

वासवदत्ता—साफ ही क्यों नहीं कहते ? 'इनके लिए रत्नमाला सौंप दो ।'

अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है जैसे वेणीसंहार में नेपथ्य से सिद्धों के द्वारा अभिनन्दन, अद्भुत-प्राप्ति है अतः यह उपगूहन है । इसकी सूचना इस स्थल पर हुई है :—

'(नेपथ्य में) महासमर रूपी आग की लपटों से जलने के बाद बचे क्षत्रियों का कल्याण हो । जिस द्रौपदी की वेणी के खुले होने के कारण क्रोधान्ध पाण्डवों ने—जिन्होंने राजाओं का नाश किया—प्रतिदिन राजाओं की स्त्रियों को अब हर दिशा में खुले बालों वाली बना दिया, बड़ी खुशी की बात है कि वही द्रौपदी की वेणी (केशपाश) जो क्रुद्ध यमराज के समान (मित्र) है, तथा कौरवों का नाशसूचक धूमकेतु है, अब सँवारी जा चुकी है, अतः प्रजाओं का अब नाश बन्द हो, तथा राजाओं का कल्याण हो ।

युधिष्ठिर—देवि, यह तेरे बालों का सँवारना आकाश में सञ्चार करने वाले सिद्धों ने अभिनन्दित किया है ।'

नायकादि को वर की प्राप्ति काव्यसंहार कहलाता है ।

जैसे 'मैं और क्या प्रिय तुम्हारे लिये करूँ' इस वाक्य के द्वारा नाटक (रूपक) के काव्यार्थ का उपसंहार काव्यसंहार कहलाता है ।

शुभ (कल्याण) की आशंसा प्रशस्ति कहलाती है । (इसी प्रशस्ति को भरतवाक्य भी कहते हैं ।)

यथा वेणीसंहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः॥'

इति शुभशंसनात्प्रशस्तिः। इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि। एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः।

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम्॥ ५४॥

कानि पुनस्तानि षट् प्रयोजनानि? (तान्याह)—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥ ५५॥

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयरागवृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति।

जैसे वेणीसंहार में, युधिष्ठिर इस उक्ति के द्वारा कल्याण का कथन करता है, अतः प्रशस्ति है।

'यदि आप ज्यादा खुश हैं, तो यह हो। मनुष्य विशालबुद्धि वाला (कृपणमति वाला न) होकर सौ वर्ष तक जीवे। भगवान् विष्णु में द्वैतरहित विमल भक्ति हो। समस्त राष्ट्र को प्रसन्न करने वाला, पुण्यशाली, गुणों में विशेष ज्ञाननिष्ठ, तथा विद्वानों का बान्धव, एवं समस्त भुवन का पालन करने वाला राजा हो।'

ये चौदह अङ्ग निर्वहण सन्धि के हैं। इस तरह ६४ अङ्गों से युक्त पांच सन्धियों का प्रतिपादन हो चुका है।

इन अङ्गों का छः प्रकार का प्रयोजन है इस बात को कहते हैं:—**इन ६४ अङ्गों का प्रयोजन छः तरह का है।**[1]

ये छः प्रयोजन कौन से हैं?—**इष्ट अर्थ की रचना, गोप्य की गुप्ति, प्रकाशन, राग, प्रयोग का आश्चर्य, तथा वृत्तान्त का उपक्षय।**

इष्ट अर्थ की रचना, गोप्य अर्थ को छिपाना, प्रकाश्य अर्थ को प्रकट करना, अभिनेय में राग की वृद्धि तथा उसमें चमत्कार का समावेश एवं काव्य की कथावस्तु का विस्तार इस प्रकार ये छः प्रयोजन इन ६४ संध्यङ्गों के द्वारा सम्पादित होते हैं।

---

१. संध्यङ्गों के इस ६४ प्रकार के भेद पर हमें थोड़ी आपत्ति है। पहले तो ये सभी अङ्ग, जो तत्तत् सन्धि में पाये जाते हैं, आवश्यक हैं या नहीं। धनञ्जय ने इसे तो स्पष्ट कर दिया है कि अमुक-अमुक सन्धि में अमुक-अमुक अङ्ग आवश्यक हैं, बाकी गौण। पर कभी-कभी नाटक में आवश्यक अङ्गों में से भी कोई नहीं मिलता। साथ ही जब हम वृत्तिकार के दिये उदाहरण देखते हैं, तो दूसरी गड़बड़ी नजर आती है। संध्यङ्गों का व्युत्क्रम देखा जाता है। किसी नाटक के एक पद्य में अमुक संध्यङ्ग माना गया है। उसके बाद के संध्यङ्ग का उदाहरण वाला पद्य उसी नाटक में पहले पड़ता है। कभी-कभी एक संध्यङ्ग दूसरी सन्धि में जा घुसता है। इस तरह नाटक के व्यावहारिक रूप में यह संध्यङ्ग-घटना ठीक नहीं बैठती। यह धनिक की वृत्ति के तथा साहित्य दर्पण में विश्वनाथ के भी उदाहरणों से स्पष्ट है।

पुनर्वस्तुविभागमाह—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

पहले कथावस्तु का अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धि के रूप में विभाजन किया गया। अब नाटक में दृश्य तथा श्रव्य अंश की दृष्टि से उसका विभाजन करते हैं—[1]

इस समस्त कथावस्तु का फिर से दो तरह का विभाजन होता है। इस वस्तु के कुछ अंश केवल सूच्य होते हैं—अर्थात् उनकी केवल सूचना ही दी जाती है, उन्हें मञ्च पर दिखाया नहीं जाता। दूसरे अंश दृश्य तथा श्रव्य दोनों होते हैं, अर्थात् उन्हें मञ्च पर दिखाया जाता है, वे सुने भी जाते हैं।

ये दृश्य तथा सूच्य दो भाग करने पर यह प्रश्न उठता है कि सूच्य कैसे तथा कौन से हैं, तथा दृश्य श्रव्य कैसे हैं, अतः उसका उत्तर देते हैं :—

वे वस्तुएँ (वस्त्वंश) जो नीरस हैं, जिनमें रसप्रवणता नहीं—जिनका मञ्च पर दिखाया जाना (नैतिकता आदि के) योग्य नहीं, वे संसूच्य या सूच्य कहलाते हैं। मधुर, उदात्त (नैतिक), रस तथा भाव से निस्यन्द वस्त्वंश जिनका मञ्च पर दिखाना नाटककार के लिए नाटक में प्रभावोत्पादकता तथा रसमयता लाने के लिए अनिवार्य है, दृश्य कहलाते हैं।

---

१. काव्य के दो भेद होते हैं—१. दृश्य तथा २. श्रव्य। श्रव्य काव्य में वस्तु की सीमा का बन्धन नहीं। किन्तु दृश्य काव्य रङ्गमञ्च पर खेले जाने के कारण देश तथा काल की संकुचित सीमा में आबद्ध रहता है। यही कारण है कि किसी नायक के जीवन से सम्बद्ध घटना को अङ्गोपाङ्गसहित ठीक उसी रूप में नाटक (रूपक) में नहीं बनाया जा सकता, जिस रूप में उसका वर्णन कवि श्रव्य काव्य में कर सकता है। यही कारण है कि नाटककार अत्यधिक प्रयोजनवती घटनाओं का दिग्दर्शन मञ्च पर कराता है, बाकी घटनाओं को—अवान्तर गौण घटनाओं को—जो नाटक के कार्य से अप्रधानरूपेण संबद्ध हैं, पात्रों के वार्तालाप, नेपथ्य या और किसी प्रकार से सूचित कर देता है। यही नहीं, कई मुख्य घटनाएँ भी ऐसी हैं, जिनका मञ्च पर बताना नाट्यशास्त्र के विरुद्ध माना जाता है। भारतीय परम्परा इन अंशों को भी मञ्च पर न बता कर सूचना ही देती है। इस प्रकार के दृश्यों का वर्णन प्रसङ्गवश आगे आयेगा। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य परम्परा भारतीय-परम्परा से भिन्न है, जहाँ निधनादि के दृश्य मञ्च पर दिखाये जा सकते हैं। आधुनिक भारतीय साहित्य के नाटकों में इस प्रकार के दृश्यों की योजना इसी पाश्चात्य नाट्यपद्धति का प्रभाव है।

तत्र विष्कम्भः—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः, सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

अथ प्रवेशकः—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

इन नीरस तथा अनुचित वस्त्वंशों की सूचना किस ढंग से दी जाती है, तथा वे ढंग कितने हैं, इसे बताते हैं :—

सूच्य वस्त्वंशों की सूचना पांच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों (अर्थ–कथावस्तु—के उपक्षेपक (सूचक)) के द्वारा की जाती है। वे अर्थोपक्षेपक हैं :—विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, तथा प्रवेशक।

विष्कम्भक नाटक (रूपक) में घटित घटनाओं या भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं (कथांशों) का वह सूचक है, जिसमें मध्यपात्रों के द्वारा[1] संक्षेप में इन कथांशों की सूचना दी जाय।

विष्कम्भ वह सूच्य अर्थोपक्षेपक है, जो अतीत या भावी कथांशों की सूचना एक मध्यम पात्र अथवा दो मध्यम पात्रों के वार्तालाप के द्वारा देता है।

यह विष्कम्भक शुद्ध तथा सङ्कीर्ण इस प्रकार दो तरह का होता है।

एक अथवा अधिक (दो) मध्यम श्रेणी के पात्रों वाला विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है, मध्यम श्रेणी के तथा अधम श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण (या मिश्र) कहलाता है।

(ध्यान रखिये विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना जरूरी है। मिश्र (सङ्कीर्ण) विष्कम्भक में कम से कम एक मध्यम श्रेणी के पात्र का होना इसे विष्कम्भक बनाता है यदि दोनों ही पात्र अधम होंगे, तो वह विष्कम्भक न रहेगा, प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक हो जायगा।)

(यद्यपि ५९ वीं कारिका में प्रवेशक की गणना अन्त में है, किन्तु विष्कम्भक से भेद बताने के कारण तथा दूसरे महत्त्वपूर्ण अर्थोपक्षेपक होने के कारण, इसका वर्णन चूलिकादि से पूर्व किया जा रहा है।)

प्रवेशक भी उसी तरह (विष्कम्भक की तरह) अतीत और भावी कथांशों का सूचक है। इसमें प्रयुक्त उक्ति उदात्त नहीं होती, (इसकी भाषा सदा प्राकृत होगी, तथा यह

---

१. नाटक के पात्रों को उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन भेदों के आधार पर विभाजित किया जाता है। राजा, राजमन्त्री, पुरोहित आदि उत्तम पात्र हैं। चोर, व्याध, सेविका, सेवक, सिपाही आदि अधम पात्र हैं। बाकी पात्र मध्यम श्रेणी में आते हैं। मध्यम श्रेणी के शिक्षित पात्र संस्कृत बोलते हैं, अशिक्षित शौरसेनी, प्राकृत।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः, अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका ।

प्राकृत भी शिष्ट (शौरसेनी) प्राकृत न होकर मागधी, शकारी आदि अशिष्ट प्राकृत होगी); तथा इसमें नीच पात्रों का प्रयोग होता है। प्रवेशक की योजना सदा दो अङ्कों के बीच ही की जाती है, तथा यह भी शेष अर्थों (कथांशों) का सूचक है।

(यहाँ विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भेद बता देना आवश्यक होगा, अतः इसे नीचे बताया जा रहा है) :—

तुलना व भेद

विष्कम्भक	प्रवेशक
१. यह अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।	१ यह भी अतीत व भावी कथांशों का सूचक है।
२. इसमें एक मध्यम पात्र या दो मध्यम पात्रों का प्रयोग होता है।	२. इसके सारे पात्र (एक या दो) नीच कोटि के होते हैं।
३. इसकी भाषा संस्कृत व शौरसेनी प्राकृत होगी।	३. इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होगी। प्राकृत भी निम्न कोटि की होगी यथा मागधी, शकारी, आभीरी, चाण्डाली, पैशाची आदि।
४. इसका प्रयोग नाटक (रूपक) के प्रथम अंक के पहले भी हो सकता है (जैसे मालतीमाधव नाटक में वृद्धा तापसी की उक्ति वाला विष्कम्भक), दो अंकों के बीच में भी (जैसे शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के पहले)।	४. इसका प्रयोग सदा दो अकों के बीच में होगा। रूपक के आदि में इसका प्रयोग कभी भी नहीं होगा। इसका प्रथम अंक में कभी भी प्रयोग नहीं होगा। (अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति)।
५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल का चतुर्थ अङ्क का विष्कम्भक।	५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल के षष्ठ अंक के पहले का प्रवेशक।

जहाँ अर्थ (कथावस्तु) की सूचना यवनिका के उस ओर अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा दी जाय, वहाँ चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है।

नेपथ्यपात्र के द्वारा अर्थ की सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे उत्तररामचरित के दूसरे अङ्क के शुरू में आत्रेयी के आगमन पर वनदेवी नेपथ्य से उसका स्वागत करती है—'(नेपथ्य में) तपोधना भगवती का स्वागत हो। (तब तपोधना मंच पर प्रवेश करती है)।' इस प्रकार नेपथ्यपात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी के आगमन की सूचना दी गयी है, अतः यह चूलिका है।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः ! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
　　सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
　　शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥'

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका ।

अथाङ्कास्यम्—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः । इतरे—क्व भगवन्तौ ? । सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः), इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ।

अथवा जैसे भवभूति के दूसरे नाटक वीरचरित (महावीरचरित) के चतुर्थ अंक के आरम्भ में नेपथ्यस्थित देवता इस बात की सूचना देते हैं कि दाशरथि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

'(नेपथ्य से) हे देवताओ, मंगल कार्यों का आरम्भ करो, आरम्भ करो ।

कृशाश्व के शिष्य भगवान् ऋषि विश्वामित्र की जय हो । सूर्य के वंश में अब भी विजयी क्षत्रिय (क्षत्र) विद्यमान हैं, उसकी जय हो । क्षत्रियों के शत्रु, परशुराम को जीतने वाले (ठीक करने वाले) समस्त संसार को अभयदान देने का जिन्होंने व्रत धारण कर लिया है, ऐसे लोगों के शरण्य, सूर्यवंश के चन्द्रमा (भगवान् रामचन्द्र) की जय हो ।'[1]

जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अंकास्य कहलाता है ।

अंक के अन्त के पात्र अंकान्तपात्र कहलाते हैं, जहाँ इस प्रकार के पात्र के द्वारा विश्लिष्ट कथावस्तु की, जिसका वर्णन अगले अंक में आयगा सूचना दी जाय वहाँ उत्तरांकावतार अंकास्य कहलाता है । जैसे वीरचरित के दूसरे अंक के अन्त में सुमन्त्र (पात्र) आकर शतानन्द तथा जनक की कथा का विच्छेद कर, भावी अंक के आरम्भ की सूचना देता है, अतः वहाँ अंकास्य है । जैसे—

'(प्रवेश कर) सुमन्त्र—पूज्य वशिष्ठ तथा विश्वामित्र, आपको भार्गव (शतानन्द) के साथ बुला रहे हैं ।

दूसरे—वे कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास ।

दूसरे—उनके अनुरोध से वहीं चलते हैं ।'　　(अंक का अंत)

---

१. यद्यपि मूल पाठ में पद्य में 'जयति' तथा 'विजयते' पदों का 'वर्तमाने लट्' का प्रयोग है, किन्तु हिन्दी अनुवाद में सुन्दरता लाने के लिए हमने यहाँ 'जय हो' यह अनुवाद किया है, वैसे शाब्दिक अनुवाद 'जय है' होगा ।

अथाङ्कावतारः—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥
एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः—तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेध अथवा मुदङ्गसद्दो उजेव णं उत्थाववस्सदि ।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति ।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रकान्तपात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ।

(इसके बाद अगला अङ्क—तब वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते हैं—इस प्रकार आरम्भ होता है ।)

जहाँ प्रथम अङ्क की वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अङ्क की वस्तु चले, वहाँ अङ्कावतार होता है । सूच्य वस्तु की सूचना इन (अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा देनी चाहिए, दृश्यों (दृश्य अर्थों) का मञ्च पर अङ्कों के द्वारा प्रदर्शन करे ।

जब प्रथम अङ्क के पात्र किसी बात की सूचना दें, तथा वे ही पात्र उसी अङ्कार्थ (कथावस्तु) को लेकर उसे बिना विच्छिन्न किये ही दूसरे अंक में प्रवेश करें, तो वहाँ प्रवेशक व विष्कम्भक आदि नहीं होता, यह अङ्कावतार है । जैसे मालविकाग्निमित्र में प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक इस वाक्य के द्वारा भावी अङ्क की वस्तु की सूचना देता है—

'तो तुम दोनों देवी के नाट्यगृह में जाकर संगीत की साज सज्जा ठीक कर पूज्य मित्र के पास दूत भेज देना, अथवा मृदंग का शब्द ही इन्हें यहाँ से उठा देगा ।'

इसके बाद मृदंग शब्द के सुनने के बाद दूसरे अङ्क के आरम्भ में सारे ही पात्र प्रथम अङ्क में वर्णित पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के शिष्यशिक्षाक्रम का दर्शन करते हैं । इस तरह पहले अङ्क की कथा अविच्छिन्न रूप में ही द्वितीय अङ्क में अवतरित हुई है, अतः अङ्कावतार है ।[1]

---

१. धनञ्जय के इस अङ्कावतार तथा अङ्कास्य के बारे में हमें उनका मत चिन्त्य दिखाई देता है । धनिक तो वृत्ति में धनञ्जय की ही बात कहते हैं । साथ ही वृत्ति में दिये दोनों के उदाहरण में हमें कोई भेद नहीं दिखाई देता । दोनों ही धनञ्जय की अङ्कावतार वाली परिभाषा में आ जाते हैं । वस्तुतः धनञ्जय व धनिक दोनों ने अङ्कास्य को स्पष्ट करने में कसर रक्खी है । भरत के नाट्यशास्त्र में पञ्चम अर्थोपक्षेपक अङ्कास्य नहीं कहा गया है । वे इसे अङ्कमुख कहते हैं । यद्यपि दोनों का अर्थ एक ही है, पर परिभाषा में भेद है । भरत के मतानुसार 'अंकमुख' वहाँ होता है, जहाँ किसी स्त्री या पुरुष के द्वारा अङ्क की कथा का सङ्क्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाय ।

'विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा । यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते ॥ (ना. शा. २१।११६)

विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में पञ्चम अर्थोपक्षेपक के रूप में पहले 'अङ्कमुख' का ही वर्णन किया गया है । विश्वनाथ के मतानुसार जहाँ एक ही अंक में (दूसरे) अङ्कों की सारी कथा की सूचना हो, वह अंकमुख है । यह नाटकीय कथावस्तु के बीज का सूचक है ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमितिशब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

वस्तु फिर तीन तरह की होती है । **नाटक (रूपक, नाट्य) की प्रकृति का निरीक्षण करके कथावस्तु फिर से तीन तरह की मानी जाती है ।**

तीन प्रकार की किस तरह, इसे कहते हैं :—कुछ सबके लिए सुनने लायक (सर्वश्राव्य) होता है, कुछ परिमित लोगों (नियत लोगों) के लिए सुनने लायक (नियतश्राव्य) होता है, कुछ किसी भी पात्र के सुनने लायक नहीं (अश्राव्य) होता ।

सर्वश्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत कहते हैं ।

सर्वश्राव्य वस्तु—सर्वश्राव्य कथनोपकथन-प्रकाश कहलाता है, जो सर्वश्राव्य (कथनोपकथन) नहीं होता वह स्वगत कहलाता है ।

दूसरा नाट्यधर्म—नियत श्राव्य वस्तु-दो तरह का होता है जनान्त (जनान्तिक), तथा अपवारित ।

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत् ॥ (सा. द. ६-५९)

साहित्यदर्पण की यह परिभाषा भरत पर ही आधृत होने पर भी विशेष स्पष्ट है । सा. द. में इसका उदाहरण मालतीमाधव के प्रथम अंक का आरंभ दिया गया है, जहाँ कामन्दकी व अवलोकिता, मालती तथा माधव के अनुराग की सूचना प्रसंगवश दे देती हैं । सा० द० का यह लक्षण व उदाहरण, साथ ही इसे अंकमुख कहना ठीक जँचता है ।

साहित्यदर्पणकार ने अंकास्य की भी धनंजय व धनिक वाली परिभाषा देकर वही उदाहरण दिया है । अंकमुख के बाद वे अर्थोपक्षेपक का धनंजय-सम्मत यह पञ्चम भेद भी करते हैं । पर वे धनंजय के मत से सहमत नहीं दिखाई देते । ऊपर की कारिका के आगे के ही कारिकार्ध की वृत्ति में वे लिखते हैं :—एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु 'अङ्कावतारेणैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः । विश्वनाथ को स्वयं को भी यह धनिकविरोधी मत ही पसन्द है । पर वे अपने मत्थे न मढ़कर 'अन्ये' शब्द का प्रयोग कर देते हैं । वस्तुतः धनिक वाला मत अवैज्ञानिक ही है । धनंजय तथा धनिक यहाँ भरत का अनुसरण करते दिखाई नहीं देते । अन्यथा यह त्रुटि न हो पाती ।

यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाय कि भरत अंकमुख का वर्णन अंकावतार के बाद करते हैं । ठीक यही विश्वनाथ ने किया है । धनंजय ने पहले अंकास्य को लिया है, बाद में अंकावतार को ।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषामभारतीयत्वान्नाम-मात्रप्रसिद्धानां केषाञ्चिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

जहाँ (मञ्च पर) दूसरे पात्रों के विद्यमान होते हुए भी दो पात्र आपस में इस तरह मन्त्रणा करें कि उसे दूसरों को न सुनाना अभीष्ट हो, तथा दूसरे पात्रों की ओर 'त्रिपताकाकर' के द्वारा हाथ से संकेत कर (दर्शकों को) इस बात की सूचना दी जाय कि उनका वारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक नामक नियतश्राव्य (कथनोपकथन) होता है ।

जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथ की सारी अंगुलियाँ ऊँची कर अनामिका अंगुली को टेढ़ा रखना त्रिपताका कहलाता है, ऐसे ढंग से हाथ करना 'त्रिपताकाकर' का लक्षण है । इस ढंग से अन्य पात्रों का अपवारण कर बातचीत करना जनान्तिक है ।

जहाँ मुँह को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं ।

नाट्यधर्म के ही प्रसंग में आकाशभाषित का वर्णन करते हैं ।

जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना ही बातचीत करे, तथा उसके कथन के कहे बिना भी सुनकर कथनोपकथन करे, वह आकाशभाषित होता है ।

(एक पात्र वाले रूपक भाण में इस आकाशभाषित का प्रयोग बहुत पाया जाता है । आज के एकाभिनय (Mono-acting) में भी इसका अस्तित्व है ।)

कुछ लोगों ने प्रथम कल्प आदि और नाट्यधर्मों को भी माना है, वे भरत नाट्यशास्त्र के मतानुसार नहीं हैं, तथा उनका केवल नाम ही प्रसिद्ध है, तथा कुछ देशभाषा में प्रयुक्त होते हैं,

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥६८॥

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः।



वस्तुविभेदजातम्—वस्तु = वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः। रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य। तदनु = एतदुत्तरम्। नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम् = चित्ररूपां, कथाम् = आख्यायिकाम्। चारूणि यानि वचांसि प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रथयेत्। तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—
'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः। कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः। चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा॥'

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम्।

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः॥



अतः नाट्यधर्म नहीं हैं, इसलिये उनका लक्षण नहीं दिया है।[1] अब इस नाटक की कथावस्तु का उपसंहार करते हुए कहते हैं :—

(कवि) इस तरह कथावस्तु के समस्त भेदों का पर्यालोचन कर तथा रामायण (महाभारत, पुराण) आदि एवं बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता (नायक) तथा रस के अनुरूप सुन्दर कथा को उपयुक्त तथा सुन्दर कथनोपकथन के द्वारा निबद्ध करे।

(नाटकादि रूपकों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही नहीं होती, वे लौकिक कथाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी हो सकती हैं, इसीलिए गुणाढ्य की बृहत्कथा को भी रूपक की कथा का स्रोतोमूल माना है।) जैसे मुद्राराक्षस नाटक का मूल बृहत्कथा ही है :—

'शकटार के घर में छिपकर उस चाणक्य ने कृत्या (डाकिनी) को पैदा कर राजा को पुत्रों सहित एक दम मार डाला। योगानंद के कीर्ति के शेष रह जाने पर (मर जाने पर), पूर्वनन्द का पुत्र, चन्द्रगुप्त उस महापराक्रमी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया।' इस प्रकार का संकेत बृहत्कथा में मिलता है। रामकथा रामायण में कही गई है।

प्रथमः प्रकाशः



---

१. वृत्तिकार (अवलोककार) धनिक 'कैश्चिदुदाहृतानि' के द्वारा इनके पूर्ववर्ती नाट्यकारों का उल्लेख करते हैं, जो प्रथम कल्प आदि अन्य नाट्यधर्मों को मानते हैं। यह मत भरत के बाद के नाट्यशास्त्रियों का है, किन्तु भरत-सम्मत नहीं। इसका संकेत भी यहीं मिलता है। 'उदाहृतानि' पद स्पष्ट बताता है कि इस मत के प्रवर्तकों के नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ भी रहे होंगे। ये कौन थे, इनके ग्रन्थ कौन-कौन से थे, ये बातें अभी अन्धकार में ही पड़ी हैं। संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र के वृत्तिकारों में से ही किन्हीं के मत हों।

अथ द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

रूपकों में (नाटक, प्रकरण आदि वक्ष्यमाण रूपक-भेदों में) परस्पर भेद का कारण वस्तु, नेता तथा रस[1] का भेद है, (जैसा कहा भी गया है—वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः) अतः इनके भेद बताने के लिए वस्तु, नेता तथा रस के प्रकारभेदों का निर्देश आवश्यक हो जाता है। प्रथम प्रकाश में वस्तुभेद का प्रतिपादन किया गया, अब नायकभेद का प्रतिपादन करते हैं।

नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर (दक्ष), प्रिय बोलने वाला (प्रियंवद), लोगों को खुश करने वाला (रक्तलोक), पवित्र मन वाला (शुचि), बातचीत करने में कुशल (वाग्मी), कुलीन वंश में उत्पन्न (रूढवंश), मन आदि से स्थिर, युवा अवस्था वाला होता है। वह बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त होता है, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होता है।

नेता अर्थात् नायक विनम्रता आदि गुणों से भूषित रहता है। (वृत्तिकार धनिक इन्हीं गुणों को क्रमशः उदाहृत करता है।)

(१) नायक विनम्र हो, जैसे भवभूति के महावीरचरित में रामचन्द्र विनम्र हैं। उनकी विनम्रता की अभिव्यक्ति इस पद्य के द्वारा हुई है :—

---

१. भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक (रूपक) के वस्तु, नेता तथा रस ये तीन तत्त्व माने जाते हैं, इन्हीं के आधार पर किसी रूपक की पर्यालोचना की जाती है। पाश्चात्य-पद्धति कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथनोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य इन छः तत्त्वों को मानती है, तथा उसके साथ 'रंगमंच' (अभिनेयता) नामक सातवें तत्त्व का भी समावेश करती है। भारतीय-पद्धति के इन तीनों तत्त्वों में पाश्चात्य-पद्धति के ये सभी तत्त्व अन्तर्भूत हो जाते हैं। चरित्रचित्रण का समावेश नेता के साथ किया जा सकता है—यह दूसरी बात है कि भारतीय काव्यों व नाटकों के रसपरक होने से केवल चरित्रचित्रण या शीलवैचित्र्य मात्र यहाँ नाटककार का लक्ष्य नहीं रहा है। 'नेता' शब्द में भारतीय नाट्यशास्त्री नायक के अतिरिक्त नायिका, पीठमर्द आदि सभी पात्रों को अन्तर्भावित करते हैं, यह स्पष्ट है। कथनोपकथन का समावेश भारतीय-पद्धति वस्तु के ही अन्तर्गत करती है, किन्तु यह रस का व्यंजक होने के कारण उसका भी अंग माना जा सकता है। देशकाल, शैली व उद्देश्य तीनों का समावेश रस में हो जाता है। अभिनेयता तो नाटक की खास प्रकृति है अतः उसे अलग से तत्त्व मानना पुनरुक्ति दोष होगा—फिर वाचिक, आंगिक, आहार्य तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा उनका भी उपादान भारतीय नाट्य-पद्धति ने किया ही है।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥'

मधुरः = प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव—

'राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥'

त्यागी = सर्वस्वदायकः । यथा—

'त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥'

दक्षः = क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥'

ब्रह्मज्ञों के द्वारा जिनके पवित्र चरणों की उपासना (लोगों के द्वारा) की गई है, जो विद्या एवं तप के निधि हैं, तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे आपके प्रति मैंने सौभाग्यतः नमस्कार आदि विनयोपचार किया है । हे भगवन् आप प्रसन्न हों, आपको मेरा यह नमस्कार है ।

(२) नायक मधुर अर्थात् प्रियदर्शन (सुन्दर) होना चाहिए, जैसे वहीं महावीरचरित में रामचन्द्र के माधुर्य का उपनिबन्धन किया गया है :—

हे सुन्दर राम, हृदय के समान, नेत्रों को अच्छी लगने वाली सुन्दरता को धारण करने वाले तुम सर्वथा मेरे हृदयङ्गम हो (तुमने मेरे हृदय में स्थान पा लिया है)। तुम्हारे गुणों की तर्कणा तथा विचार बुद्धि से परे हैं (तुममें अनेकानेक गुण हैं), अतएव तुम सुन्दर (ज्ञात होते) हो ।

(३) नायक त्यागी अर्थात् समस्त वस्तुओं (तन, मन, धन) को देने वाला हो, किसी भी सांसारिक वस्तु के प्रति उसका अनुचित मोह न हो । महात्माओं की इसी त्यागशीलता का उदाहरण नीचे त्याग गुण को स्पष्ट करने के लिए देते हैं :—

कर्ण ने त्वचा, शिबि ने मांस, जीमूतवाहन ने जीवन (जीव), तथा दधीचि ने हड्डियों को दे दिया । महात्मा लोगों के लिए कोई भी चीज अदेय नहीं ।

(४) नायक दक्ष होना चाहिए । दक्ष से तात्पर्य किसी भी कार्य को एकदम फुर्ती से करने (क्षिप्रकारिता) से है । नायक सुस्त और दीर्घसूत्री न होकर क्षिप्रकारी होना चाहिए । इसका उदाहरण महावीरचरित से रामचन्द्र के विषय में दिया जाता है :—

समस्त देवताओं के तेज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का अन्त करने वाला, शिव का पिनाक धनुष जो मानो हजारों कड़कड़ाते कठोर वज्रों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। वत्स राम ने उस अचल धनुष पर इसी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बच्चा सूँड रखता है, और सशब्द प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खींचा तथा तोड़ डाला।

(५) नायक (प्रियंवद) अर्थात् प्रियवचनों को बोलने वाला होना है । जैसे वहीं महावीरचरित में रामचन्द्र परशुराम से बात करते समय अपनी प्रियंवदता का परिचय देते हैं :—

प्रियंवदः = प्रियभाषी। यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु-
र्वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥'

रक्तलोकः। यथा तत्रैव—

'त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज-
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात्।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः॥'

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम्। तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम्। यथा रघौ—

'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥'

वाग्मी। यथा हनुमन्नाटके—

'बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः।

आपकी उत्पत्ति महर्षि जमदग्नि से है (महर्षि जमदग्नि आपके पिता हैं), वे भगवान् शिव आपके गुरु हैं। आपकी वीरता कार्यों से ही प्रकटित है, उसे वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता (वह वाणी के मार्ग में नहीं आ सकती)। सातों समुद्रों के द्वारा सीमित पृथ्वी को बिना किसी व्याज के दान देना आपके त्याग का सूचक है। सत्य, ब्रह्म तथा तप के निधि (सत्यनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ तथा तपोनिष्ठ) आपकी ऐसी कौन वस्तु है, जो अलौकिक न हो।

(६) नायक रक्तलोक होना चाहिए अर्थात् सभी लोग उससे खुश रहें। जैसे महावीरचरित में राम के आचरण से लोग उनसे खुश हैं, उनमें अनुरक्त हैं, इसकी सूचना इस पद्य के द्वारा दी गई है।

अपने महाराज आपकी कृपा से, हम लोग आपके इस पुत्र रामचन्द्र के द्वारा राजा वाले होकर कुशलता प्राप्त कर, समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर (आनन्द से) रह रहे हैं। आपका यह पुत्र तीनों वेदों की रक्षा करने वाला है।

(७) इसी परिपाटी से नायक के अन्य गुणों शौचादि का भी उदाहरण दिया जा सकता है। शौच का तात्पर्य मन की निर्मलता है; जिससे मन काम आदि दोषों से युक्त न हो सके। जैसे रघुवंश के षोडश सर्ग में कुश अपनी शुचिता का प्रकाशन करते कहता है :—

हे शुभे, तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो, तुम्हारे मेरे पास आने का क्या कारण है? वशी मन वाले जितेन्द्रिय रघुवंशियों के मन को परस्त्री विमुख समझ कर इन बातों का उत्तर दो।

(८) नायक बातचीत करने में कुशल होना चाहिए जैसे रामचन्द्र! निम्न हनुमन्नाटक के पद्य में परशुराम को प्रत्युत्तर देते हुए राम अपनी वाग्मिता का परिचय देते हैं।

हे परशुराम, न तो मुझे अपने हाथों के बल का ही पता था, न शिवजी के इस धनुष की

तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥'

रूढवंशो यथा—

'ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तवकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥'

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

यथा वा भर्तृहरिशतके—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥'

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥'

कमजोरी का ही । इसलिए यह गलती हुई । अतः मेरी चपलता को क्षमा करें । बच्चों की चपल चेष्टाएँ बड़े लोगों को प्रसन्न ही करती हैं ।

(९) नायक उच्च वंश में उत्पन्न हो, जैसे रामचन्द्र की कुलीनता का व्यञ्जक निम्न पद्य है :—

सूर्यवंश में उत्पन्न क्षत्रिय संतानों की मालतीमाला (अथवा कल्पवृक्ष की कलियों की माला) के स्तवक के अनुरागी भँवरे, जो चार राजकुमार उत्पन्न हुए उन चारों में सबसे बड़े रामचन्द्र हैं, जो ताड़कारूपी कालरात्रि के प्रातःकाल हैं, तथा वह मूलकन्द हैं, जिससे सुन्दर चरित्र वाली यशगाथाओं की कन्दलियाँ पैदा हुई हैं ।

(१०) नायक स्थिर होना चाहिए अर्थात् वह वाणी, मन तथा शरीर से चंचल न हो जैसे महावीरचरित में ही:—

मैंने आप पूज्य लोगों का उल्लंघन किया है, इसलिए मैं प्रायश्चित्त का आचरण करूँगा । पर इस तरह मैं शस्त्रग्रहण करने के बड़े प्रण को दूषित नहीं करूँगा ।

अथवा जैसे भर्तृहरिशतक में,

नीच कोटि के व्यक्ति केवल विघ्नों के डर के ही कारण कोई काम नहीं करते । मध्यमकोटि के व्यक्ति काम तो शुरू करते हैं, पर विघ्नों से पराभूत होकर उन्हें बन्द कर देते हैं । तुम जैसे उत्तमगुण (उत्तमकोटि के) व्यक्ति विघ्नों से बार-बार पराभूत होने पर भी आरंभ किये हुए कार्य का वहन करते-रहते हैं ।

नायक के इन उपर्युक्त गुणों का विवेचन कर बाकी गुणों के उदाहरण देना वृत्तिकार आवश्यक नहीं समझता । नायक का युवक होना भी अत्यावश्यक गुण है, विशेष कर शृङ्गाररसपरक

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह—

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः ।

नाटकादि में यह सर्वथा अपेक्षित है। साथ ही वीरतादि गुण भी युवावस्था में ही चरमरूप में विकसित पाये जाते हैं। नायक के विषय में प्रयुक्त 'युवा' विशेषण स्पष्ट ही है।

नायक में बुद्धि, प्रज्ञा आदि का भी अस्तित्व होना चाहिए, इसे कारिकाकार धनंजय बताते हैं। आमतौर पर बुद्धि व प्रज्ञा का एक अर्थ समझा जाने से एक साथ दोनों के प्रयोग पर पुनरुक्ति दोष की आशंका की जा सकती है। इस का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार दोनों के भेद को बताते हुए कहते हैं, कि बुद्धि का अर्थ ज्ञान अर्थात् ज्ञान सामान्य है। प्रज्ञा विशेष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली है, अर्थात् किसी गृहीत ज्ञान में अपनी ओर से कुछ मिलाकर उसे विशिष्ट रूप देने वाली अन्तःशक्ति का नाम प्रज्ञा है। जैसे मालविकाग्नि मित्र में—'नृत्यकला के प्रयोग में मैंने जो-जो ढङ्ग (भाविक) उसे बताये हैं, वह बाला उनको विशिष्ट बनाकर ऐसा प्रयोग करती है मानो मुझे फिर से सिखा रही है।' और बाकी सब स्पष्ट है।[1]

अब नायकों के भेदों का वर्णन करते हैं :—यह नायक ललित, शान्त, उदात्त तथा उद्धत इस प्रकार के भेदों के कारण चार तरह का होता है।

(यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि भारतीय नाटकों के नायक में धीरता (धैर्य) का होना परमावश्यक है, प्रत्येक प्रकार के नायक में धीरता होनी ही चाहिए, यही कारण है कि नायकों के सभी भेदों के साथ 'धीर' विशेषण जरूर लगाया जाता है। इस तरह नायक-भेद ४ तरह का माना जाता है—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत)

क्रमसे इनका लक्षण नामसहित बताते हैं :—धीरललित वह नायक है जो सर्वथा निश्चिन्त रहता है। वह कोमल स्वभाव का होता है, सुखी रहता है तथा कलाओं (नृत्य-गीतादि) में आसक्त रहता है।

---

१. वृत्तिकार ने नायक के बाकी गुणों को उदाहृत करना विस्तार के भय से ठीक नहीं समझा है। दो एक के उदाहरण हम यों ले सकते हैं :—

(१) युवा जैसे :—हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजान् जनितमीनकेतनः ।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥

(२) शूर जैसे :—भूमे स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत सम्प्रति संदिधीर्षां देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥

(३) उत्साही जैसे :—किं करिष्यति किलैष वामनो यावदित्थमहसंश्च दानवाः ।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः ॥

(४) तेजस्वी जैसे :—यं समेत्य च ललाटलेखया बिभ्रतः सपदि शम्भुविग्रहम् ।
चण्डमारुतमिव प्रदीपरुचेदिपस्य निरवाहि लोचनम् ॥

इसी तरह बाकी गुणों के उदाहरण महाकाव्यों व नाटकों से ढूंढे जा सकते हैं।

यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥'

अथ शान्तः—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतॄणामुपलक्षणं, विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं, यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः ।

धीरललित नायक के योगक्षेम[1] की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है, अतः वह इस प्रकार की चिन्ताओं से रहित रहता है । इस चिन्तारहितता के कारण वह गीतादिकलाओं का प्रेमी तथा भोगविलास में प्रवण रहता है । उसमें शृङ्गाररस की प्रधानता होने के कारण वह सुकुमार आचरणवाला तथा कोमल स्वभाववाला होता है । जैसे रत्नावली नाटिका का नायक वत्सराज उदयन इसी धीरललित कोटिका नायक है ।[2]

'राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं, अब कोई भी शत्रु ऐसा नहीं जो राज्य में विघ्न उपस्थित करे । राज्य-शासन का सारा भार सुयोग्य मंत्री यौगंधरायण को सौंप दिया है । प्रजाओं को अच्छी तरह से लालित व पालित किया गया है, उनके सारे दुःख-उपसर्ग—(अकाल आदि ईतियाँ) शांत हो चुके हैं । मेरे हृदय को प्रसन्न करने के लिये प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता मौजूद है, और तुम मौजूद हो । इन सब वस्तुओं के नाम से ही काम (इच्छा) धैर्य को प्राप्त हो । अथवा इन सब वस्तुओं के विद्यमान होने पर कामदेव मजे से आयें, मैं तो यह समझता हूँ, कि मेरे लिए यह बहुत बड़े उत्सव का अवसर उपस्थित हुआ है । मैं कामदेव के उत्सव का स्वागत करने को प्रस्तुत हूँ ।

धीरशान्त (धीरप्रशान्त) वह नायक है जिसमें सामान्य प्रकार से उपर्युक्त नायकगुणों का समावेश है । यह ब्राह्मण, वैश्य या मंत्रिपुत्र आदि होता है ।

विनय आदि नायकगुणों का सामान्यरूप जिसमें पाया जाय, जो ब्राह्मण, वैश्य, मंत्रिपुत्र आदि (द्विजादिक) हो वह धीरशान्त नायक कहलाता है । धीरशान्तता प्रकरण (रूपक का एक भेद) के नायक का लक्षण है । यह बात कहना आवश्यक है कि प्रकरण रूपक के नायक में चाहे उपर्युक्त निश्चिन्ततादि (जिनका समावेश धीरललित की परिभाषा में किया गया है) पाये जायँ, फिर ब्राह्मणादि जाति के नायकों में शान्तता माननी ही होगी । यद्यपि प्रकरण

---

१. जो वस्तु अभी तक नहीं मिली है उसका मिलना योग; तथा मिली हुई चीज की रक्षा करना क्षेम कहलाता है—(अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः)—

२. यहाँ यह संकेत करना अनुचित न होगा कि नाटिका के नायक सभी धीरललित होते हैं । वैसे मालविकाग्निमित्र आदि कुछ नाटकों के नायक भी इस कोटि में आसकते हैं । उन्हें कुछ लोग धीरोदात्त मानना पसन्द करेंगे । विक्रमोर्वशीय का पुरूरवा धीरोदात्त ही माना जाना चाहिए ।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ॥'

इत्यादि । यथा वा—

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' (इत्यादि) ।

अथ धीरोदात्तः—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥ ४ ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः = शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः, अविकत्थनः = अनात्मश्लाघनः, निगूढाहङ्कारः = विनयच्छन्नावलेपः, दृढव्रतः = अङ्गीकृतनिर्वाहकः, धीरोदात्तः—यथा नागानन्दे—'जीमूतवाहनः—

के नायक निश्चिन्त, कलाप्रिय आदि होते हैं, फिर भी वे ललित कोटि के नहीं माने जाने चाहिए, उन्हें शान्त ही मानना होगा, क्योंकि ब्राह्मणादि की प्रकृति ही शान्त होती है। मालतीमाधव का माधव, मृच्छकटिक का चारुदत्त आदि (यथा मेरे मन्दारवतीब्रह्मदत्त प्रकरण का ब्रह्मदत्त) ये सभी शान्त कोटि के हैं। इसकी अभिव्यंजना इन पद्यों से होती है :—

(भगवती माधव का परिचय देते हुए कहती है)

नेत्रवाले लोगों को प्रसन्न करने वाला, कलापूर्ण, कान्ति से युक्त बालचन्द्रमा जिस तरह उदयगिरि से उदित होता है, उसी तरह देदीप्यमान गुणों की कान्ति से मनोहर, कलाओं में पारगत यह अकेला माधव, संसार के नेत्रधारियों के लिए महान् उत्सव (प्रसन्नता) का कारण बनकर उस कुल में उत्पन्न हुआ है।

अथवा जैसे (मृच्छकटिक में चारुदत्त स्वयं अपना परिचय देता है) :— जो मेरा कुल सभाओं में चैत्यों के सघन वेदघोषों से ध्वनित होता था, तथा सैकड़ों हवन यज्ञों के द्वारा पवित्र रहता था, वही आज मेरी मृत्यु के समीप होने पर ऐसे नीच मनुष्यों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा में घोषित किया जा रहा है।[1]

धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यन्त गंभीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर (अचंचल मन वाला), निगूढ़ अहंकार वाला, तथा दृढव्रत होता है।

महासत्त्व का अर्थ यह है, कि धीरोदात्त नायक का अन्तःकरण (अन्तःसत्त्व) क्रोध, शोक

---

१. अथवा जैसे मेरे मन्दारवतीब्रह्मदत्तप्रकरण का ब्रह्मदत्त—
वेदान् केचिच्च तर्कप्रथनजटिलितान् न्यायग्रन्थांश्च केचित्
केचित् सांख्यं च वेदान्तमिह च गणितं, पाणिनीयं पठन्तः ।
साहित्यं पूतजम्बूमधुरसमधुरं केचिदास्वादयन्त-
स्तिष्ठन्त्यत्र मदगुरोरभवत्र विमलमनसो वाग्मिशिष्याः सुखेन ॥ (प्रथम अंक)

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥'

यथा च रामं प्रति—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥'

यच्च केषांचित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्संकीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा—

आदि विकारों से अभिभूत नहीं होना चाहिए । अविकत्थन का अर्थ यह है कि वह अपनी ही प्रशंसा करने वाला न हो ।[1] निगूढाहंकार का तात्पर्य यह है कि उसमें अहंकार व स्वाभिमान अवश्य हो, किन्तु वह विनम्रता के द्वारा दवाया हुआ तथा छिपाया हुआ हो । दृढव्रत से तात्पर्य यह है, कि उसने जिस वात का प्रण कर लिया है, उसका अन्त तक निर्वाह करने वाला हो । धीरोदात्त नायक का उदाहरण हम नागानन्द के नायक जीमूतवाहन के रूप में ले सकते हैं :—

'हे गरुड, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस वचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो, ऐसा मेरा अन्दाजा है । फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो ।' अथवा जैसे राम के विषय में (उनकी धीरोदात्तता के विषय में) यह उक्ति है :—

जब उन्हें अभिषेक के लिए बुलाया तब और जब उन्हें वन के लिए विदा दी गई तब, दोनों वक्त मैंने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी (थोड़ा सा भी) विकार नहीं देखा ।

'नायक के स्थैर्य, दृढ़ता आदि गुणों का वर्णन नायक के सामान्य लक्षण में किया जा चुका है, अतः उनका धीरोदात्त के लक्षण में पुनः वर्णन पुनरुक्ति दोष है' इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि धीरोदात्त में ये सामान्य गुण विशिष्ट रूप में पाये जाने चाहिए, इस अवधारण के लिए इनकी फिर से गणना की गई है । इसका खास कारण धीरोदात्त में इन गुणों की अधिकता बताने के लिए है ।

धीरोदात्त नायक के उदाहरण के रूप में ऊपर विद्याधरराज के पुत्र जीमूतवाहन प्रसिद्ध त्यागशीलों तथा दानियों में से एक हैं तथा उसमें विषयादि के प्रति सांसारिक जीव की भाँति निष्ठा न होकर, विरक्ति का भाव पाया जाता है । नागानंद के रचयिता हर्षवर्धन ने भी जीमूतवाहन का चित्रण विषय-विरक्त के रूप में किया है । इन वातों को देखकर पूर्वपक्षी को जीमूतवाहन के धीरोदात्तत्व के विषय में शंका हो उठती है । इसी का संकेत यहाँ वृत्तिकार ने किया है ।

नागानन्द आदि नाटकों में[2] जीमूतवाहन आदि नायकों को धीरोदात्त क्यों कहा जाता है ? धीरोदात्त नायक में उदात्तता प्रधान गुण है । उदात्तता का तात्पर्य उस वृत्ति से है जो सबसे बढ़कर

---

१. ध्यान रखिये विकत्थन होना जहाँ धीरोदात्त के लिये दोष है (गुण नहीं), वहाँ धीरोद्धत नायक के लिए दोष नहीं है ।

२. आदि शब्द से भर्तृहरिनिर्वेद, आदि नाटकों का भी समावेश किया जा सकता है ।

'तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः॥

इत्यनेन।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम्।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः॥'

इत्यनेन च। अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता। अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम्। यच्चोक्तम्—'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति। तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम्। अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध–युधिष्ठिर–जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते

उत्कृष्टता प्रकट करती है अर्थात् अन्य लोगों से उत्कृष्ट होना ही उदात्तता है। यह उदात्तता तभी हो सकती है, जब नायक में दूसरों को जीतने की (उनसे उत्कृष्ट होने की) इच्छा विद्यमान हो। किन्तु जीमूतवाहन में यह विजिगीषा नहीं पाई जाती। कवि हर्षवर्धन ने उसका चित्रण निर्जिगीषुरूप में किया है। इसका प्रमाण जीमूतवाहन की यह उक्ति दी जा सकती है—

'पिता के सामने जमीन पर बैठने से जो शोभा थी, क्या वैसी सिंहासन पर बैठने से है; पिता के चरणों की सेवा से जो सुख था, क्या वह राज्यप्राप्ति से हो सकता है? तीनों लोकों के भोग से भी क्या वह धैर्य (सन्तोष) मिल सकता है, जो पिता के जूठन (भुक्तोज्झित) से? पिता से विमुक्त मेरे लिए राज्य भी बोझा (भारस्वरूप) हो गया है, इसमें भी कोई गुण ही है।'

'क्रमागत (वंश परम्परा प्राप्त) ऐश्वर्य को छोड़कर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं वन में वैसे ही जा रहा हूँ, जैसे जीमूतवाहन गया था।'

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जीमूतवाहन में विरक्तता और शान्ति की प्रधानता पाई जाती है, साथ ही वह परमदयालु भी है अतः उसे रागहीन (वीतराग) की भाँति शान्त मानकर धीर-प्रशान्त कोटि का नायक मानना ठीक होगा। इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन की नाटकीय कथावस्तु में कुछ दोष भी नजर आता है। इस तरह के शान्त तथा विकारहीन प्रकृति वाले नायक को लेकर, जो राज्यसुख आदि से सर्वथा उदासीन है, आगे जाकर मलयवती के साथ उसके अनुराग का वर्णन करना अनुचित प्रतीत होता है। इसके साथ ही धीरशान्त की परिभाषा—'सामान्यगुणों से युक्त ब्राह्मणादि धीरप्रशान्त कोटि का नायक है'—भी मिथ्या है। क्योंकि सामान्य गुण—शौर्य दक्षता, उत्साह, कलाविता आदि शान्त तथा नीराग व्यक्ति में नहीं पाये जा सकते। अतः यह परिभाषा ठीक तरह से धीरप्रशान्त की विशेषता को व्यक्त नहीं कर पाती, तथा उसे अन्य धीरोदात्तादि से अलग करने में समर्थ नहीं जान पड़ती है। असल में वास्तविक स्थिति यह है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि के नाम तथा इनके वृत्तान्त शान्त रस का आविर्भाव करते हैं। अतः इन्हें शान्त कोटि में ही मानना ठीक होगा।

(समाधान)

इस शंका का उत्तर देते हैं:—उदात्तता का तात्पर्य तुम सर्वोत्कर्ष वृत्ति मानते हो, ठीक है।

अथ धीरोद्धतः—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥ ५ ॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म = वञ्चनामात्रम्, चलः = अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, स्वगुणशंसी = विकत्थनो धीरोद्धतो भवति, यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय—' इत्यादि। यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य।' इत्यादि।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सवृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातेरनपायित्वात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः—

अहंकार का न होना, यह ब्राह्मणादि में उचित है। इसलिए वास्तविक दृष्टि से ब्राह्मणादि में शान्तता पाई जाती है, यही नहीं कि कोरी परिभाषा से ही वे धीरशान्त मान लिये गये हों।[1]

बुद्ध की करुणा तथा जीमूतवाहन की करुणा में भी भेद है, एक की करुणा निष्काम है, दूसरे की सकाम। इसलिए जीमूतवाहनादि धीरोदात्त ही हैं।

धीरोद्धत नायक घमण्ड (दर्प) और ईर्ष्या (मात्सर्य) से भरा हुआ, माया और कपट से युक्त, घमण्डी, चञ्चल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी होता है।

दर्प का तात्पर्य शौर्य आदि का घमण्ड है, मात्सर्य का तात्पर्य दूसरों की असहनता है। मन्त्र बल से झूठी वस्तुओं को प्रकट करना माया कहलाता है, दूसरों को ठगना छद्म कहलाता है। चञ्चल से मतलब है, जो स्थिर न हो। इन गुणों के अलावा धीरोद्धत क्रोधी और अपनी खुद की डींग मारने वाला होता है। जैसे वीरचरित के परशुराम जो अपने आपको 'कैलास के उठाने तथा तीनों लोकों के जीतने में' समर्थ मानते हैं, तथा रावण 'जिसकी भुजाएँ तीनों लोकों के ऐश्वर्य की लक्ष्मी को हठ से अपहरण करने में समर्थ हैं।'

नायक के धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत कोटि के होने के विषय में एक भ्रान्ति हो सकती है कि नायक का पूरा जीवन-चित्रण एक ही कोटि का होगा। इस तरह तो दुष्यन्तादि धीरोदात्त नायकों में जो कलाप्रियता तथा रागमयता बताई गई है, तथा जो धीरललित का गुण है—ठीक नहीं बैठेगी। वस्तुतः ऐसा मानना ठीक नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार बताता है कि धीरललित आदि पारिभाषिक शब्द तत्तत्प्रकरण में वर्णित गुणों से समारोपित अवस्था के अभिधायक हैं। इस तरह एक ही नायक में कभी ललित वाली अवस्था, कभी शान्त वाली अवस्था, कभी उदात्त वाली अवस्था और कभी उद्धत वाली अवस्था पाई जा

---

[1] धीरशान्त नायक के ऊपर के दो उदाहरण (माधव व चारुदत्त) शृंगार रस वाले हैं। यहाँ मेरे 'दधीचिचरित' से धीरप्रशान्त नायक का परोपकार वाला रूप दिया जा सकता है, जो जीमूतवाहन व दधीचि के क्रमशः धीरोदात्तत्व व धीरप्रशान्तत्व को स्पष्ट कर देगा।

अमरश शिरश्छेद भृकुटिना स्फुरत्त्विना
बलवदमल मार्गं मदोद्धता स्फुरदुल्लता।
स्वमरमसरोद देहं धीमान् मुनिन च वज्रिणे,
परमथ भवान् प्रारब्धस्मोः परार्थदुर्दर्शः॥

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार–' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं वीरोद्धतत्वेन, पुनः–'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः, न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात् । अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽव-

---

सकती है । (यह दूसरी बात है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधार पर उसकी धीरललितादि संज्ञा किसी एक गुण की विशिष्टता के कारण की जाती है ।) जैसे बैल (गौः) को हम विभिन्न अवस्थाओं में बछड़ा, बैल और साँड़ इन नामों से पुकारते हैं, ठीक उसी तरह नायक के विषय में भी कहा जा सकता है । उदात्त, ललित आदि जाति (उदात्तत्व या ललितत्व) के रूप में नायक में स्थित नहीं है। जिस तरह गौ में वत्सत्वादि जाति न होकर गोत्व जाति है, वत्स, वृषभ, महोक्ष केवल बैल के गुण हैं, वैसे ही नायक में नायकत्व जाति है, उदात्त, ललित आदि उसके गुण हैं ।[1] अगर ललित आदि को ललितत्वादि जाति मानकर तत्तत्कोटि के नायक में अविनाभावेन स्थित माना माना जाय, तो फिर एक ही नायक में अनेक तरह के रूपों (ललित, उदात्त आदि) का निरूपण अनुचित होगा । महाकवियों ने अपने काव्यों व नाटकों में एक ही नायक को कई रूपों से युक्त निरूपित किया, जो परस्पर विरुद्ध है—किन्तु यह विरोधि-समागम असङ्गत इसलिए नहीं लगता कि ये ललितादि गुण हैं, तथा एक ही व्यक्ति में विभिन्न समयों (अवस्थाओं) पर विभिन्न गुणों की स्थिति पाई जा सकती है । लेकिन अगर ललित आदि को जाति मान लिया जाय, तो जाति अविनाशी है, अतः जहाँ ललितत्व जाति का अस्तित्व है, वहाँ उदात्तत्व जाति कैसे पाई जायगी । (जब कि गुण विनाशी तथा क्षणिक है अतः परस्पर विरोधी गुणों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही नायक में पाया जाना अनुचित तथा असङ्गत नहीं है ।)

उदाहरण के लिए भवभूति के महावीरचरित से परशुराम के पात्र को ले लीजिये । भवभूति के परशुराम में कई गुणों का समावेश पाया जाता है । एक ओर रावण के प्रति निम्न संदेश भेजते हुए परशुराम का धीरोदात्तत्व प्रकट किया है:—'ब्राह्मणों के अपमान को छोड़ देना तुम्हारे ही कल्याण के लिए है । परशुराम वैसे तुम्हारा मित्र है, लेकिन (ब्राह्मणों का अपमान करने पर) वह क्रुद्ध होता है ।' दूसरी ओर राम के प्रति 'कैलासोद्धारसार'—आदि उक्ति का प्रयोग करते उसका धीरोद्धत-रूप प्रकट किया गया है । तीसरी ओर फिर 'ब्राह्मजाति पवित्र

---

१. वृत्तिकार का भाव यह है कि घड़े से घटत्व जाति पृथक् नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यक्ति तथा जाति का अविनाभाव सम्बन्ध है । किन्तु गुण के विषय में ऐसा नहीं है । घड़ा काला, लाल, नीला कई तरह का हो सकता है । घड़े में कृष्णत्व, रक्तत्व आदि जाति मानना ठीक नहीं होगा । महाभाष्यकार भी गुण को जाति नहीं मानते—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । गौश्शुक्लश्चलो डित्थ इति । नायक में अविनाभाव सम्बन्ध से नायकत्व की ही स्थिति है, ललितादि गुणों की नहीं । अतः ललितादि गुण तो केवल तत्तदवस्था के रूपक हैं ।

(अयं भावः—यथा घटादौ घटत्वादिजातिः वस्तुस्थित्याऽविनाभावेन तिष्ठति, किन्तु शुक्लादि-गुणस्तु अवस्थाविशिष्ट एव, तथैव नायके नायकत्वजातिरविनाभावेन तिष्ठति, ललितादिगुणास्तु अवस्थानिरूपका एवेति दिक् ।)

स्थान्तरोपादानमन्याय्यं, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया वावस्थापरित्याग इति।

वक्ष्यमाणं च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वा प्रत्यन्यया हृतः' इति नित्यसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम्।

अथ शृङ्गारेऽवस्थाः—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥ ६ ॥

है' इस प्रकार धीरशान्त के रूप में उनका चित्रण हुआ है।[1] इस तरह अलग-अलग अवस्थाओं में परशुराम का चित्रण अनुचित नहीं है। यहाँ परशुराम प्रधान नायक न होकर महावीरचरित के प्रधान नायक राम के अङ्गभूत नायक हैं। अङ्गभूत नायकों में महासत्त्वादि गुण प्रधान नायक की अपेक्षा न्यून तथा अव्यवस्थित ही होते हैं। अतः ऐसे अङ्गभूत नायकों का भिन्न भिन्न अवस्थाओं का चित्रण सर्वथा उचित जान पड़ता है। लेकिन जहाँ तक प्रधान नायक का प्रश्न है, उसके बारे में ऐसा करना ठीक नहीं होगा। जैसे मान लीजिए किसी प्रबन्ध (काव्य या नाटक) में रामादि को प्रधान नायक निबद्ध किया गया। ऐसे स्थल पर प्रबन्ध के अन्य पात्रों के प्रति प्रधान नायक की जो अवस्था आरम्भ में कवि ने गृहीत की है, उसी का निर्वाह अन्त तक होना ठीक है, दूसरी अवस्था का ग्रहण वहाँ ठीक नहीं जँचेगा जैसे, राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रबन्ध में कपट से बालि का वध करना उनके महासत्त्व में दोष उत्पन्न कर देगा और वे अपनी अवस्था छोड़ देंगे (क्योंकि छलादि का आश्रय धीरोद्धत नायक का गुण है); (अतः ऐसे अवसरों पर कुशल कवि प्रबन्ध में उचित हेर-फेर कर ऐसे स्थल को नायक की धीरोदात्त प्रकृति के अनुरूप बना लेते हैं।)[2]

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः। तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः।

तत्र—

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः। यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः।
सविश्रम्भः कश्चित्कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम्॥'

यहाँ नायक के प्रकरण में मूल कारिका में प्रयुक्त 'पूर्वा' तथा 'अन्यया' इन विशेषणों से इनके विशेष्य 'नायिका' का अध्याहार कर लेना पड़ेगा। यह नायक जब किसी नवीन नायिका के प्रेम में फँस जाता है, तो पहली नायिका के प्रति इसका व्यवहार कई प्रकार का हो सकता है। इसी व्यवहार के आधार पर श्रृंगारी नायक के दक्षिण, शठ तथा धृष्ट ये भेद किये गये हैं। कुछ ऐसे भी नायक (अनुकूल) होते हैं, जो एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहते हैं (जैसे उत्तररामचरित के रामचन्द्र), इस भेद का वर्णन भी आगे किया जा रहा है। इस पर नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक को चार तरह का माना जा सकता है। ऊपर धीरललितादि चार प्रकार के नायकों के भेद बताये। प्रत्येक प्रकार का नायक दक्षिण, शठ, धृष्ट या अनुकूल हो सकता है, इस तरह (४×४=१६) नायक के भेद १६ तरह के हो जाते हैं।

दक्षिण नायक वह है जो नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता, तथा उसे इस बात का अनुभव नहीं होने देता, कि वह उससे कुछ उदासीन हो गया है। संक्षेप में वह पूर्वा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी हृदय से व्यवहार करता है।

दक्षिण नायक के उदाहरण के रूप में वृत्तिकार धनिक अपने ही बनाये हुए पद्य को रखते हैं। सखियाँ किसी नायक की अन्यासक्ति के बारे में बार-बार आ-आ कर ज्येष्ठा नायिका को चेतावनी दे जाती हैं। इधर नायक का व्यवहार ज्येष्ठा के प्रति इतना सहृदयतापूर्ण है कि उसे इस बात का विश्वास ही नहीं हो पाता कि उसका प्रेमी अब किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त हो गया है। इसी बात को नायिका स्वयं अपनी एक सखी से कह रही है।

वह मुझे देखते ही खुश हो जाता है, तथा नाना प्रकार से (क्या-क्या) रतिक्रीडाएँ किया करता है, जो प्रेम से भरी रहती हैं। उसकी विनम्रता प्रतिदिन अपूर्व रूप लेकर आती है। हर रोज वह एक नये प्रेम, नई खुशी, नई तहजीब के साथ मुझसे मिलता है। लेकिन दूसरी ओर मेरे विश्वासपात्र कोई सेवक (सखियाँ भी) कुछ दूसरी ही बात कहते हैं। विश्वासपात्र सेवकों से मुझे यह पता चला है कि अब वे कहीं दूसरी जगह आसक्त हो गये हैं। चूँकि सेवक विश्वासपात्र हैं, इसलिये मैं ऐसा भी नहीं मान सकती कि वे झूठ बोलते हैं। और इधर हे सखि, मैं स्वयं उसके विकार तथा परिवर्त्तन का विश्वास नहीं कर पाती हूँ।

---

(३) धीरोद्धतः—भीतौ यदीयखरखर्वकशाभिघाता दाता नवं वपुषि कान्तिपुषि स्पृशन्तौ।
तन्मन्दुरावंगणसेवनतत्परौ किं जातौ न देवभिषजावपि देववन्द्यौ॥

यथा वा—

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥'

अथ शठः—

—गूढविप्रियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

अथ धृष्टः—

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

यथाऽमरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥'

भेदान्तरमाह—

—ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७ ॥

उचित मात्रा में न लेने पर उनका मिश्रण विष हो जाता है और चाटने वाले व्यक्ति को निश्चेतन बना देता है, वैसे ही तेरे (झूठे) स्नेह तथा प्रेम के मिश्रण का आस्वाद कर मेरी सखी मदमस्त हो जाती है, और उस मस्ती में इतनी बदहोश हो जाती है कि तेरी इन चालाकियों के बारे में भी कुछ नहीं जान पाती ।

कभी नायक छिप-छिप कर कनिष्ठा नायिका के साथ शृङ्गारचेष्टाएँ करता है, और उसकी इन चेष्टाओं का निशान उसके शरीर पर लगा रहता है। ज्येष्ठा नायिका के सामने जब उसके ये अङ्गविकार प्रकट हो जाते हैं और उसे नायक की छिप कर की गई सारी चेष्टाओं का भान हो जाता है, तो नायक धृष्ट कहलाता है। (धृष्ट नायक इतना ढीठ है कि वह इस तरह अङ्गविकार युक्त होकर भी ज्येष्ठा के सामने जाने से नहीं हिचकिचाता।)

धृष्ट नायक का उदाहरण अमरुकशतक से दिया गया है। कनिष्ठा के साथ रतिक्रीडा कर क्रीडा के चिह्नों से शोभित हो, नायक ज्येष्ठा के समीप आया है। उसे देखकर रात में की गई नायक की सारी हरकतें ज्येष्ठा को मालूम हो गई हैं। ज्येष्ठा के मन में इसे देखकर क्या भाव उठते हैं, उनकी अभिव्यञ्जना इस पद्य में ज्येष्ठा के अनुभावों तथा सात्विक भावों के द्वारा की गई है।

रात को रतिक्रीडा करते समय कनिष्ठा नायिका के रूठने पर नायक ने उसके चरणों पर सिर रखकर उसे मनाया था, इसलिए उसके ललाटतट पर नायिका के चरणों के अलक्तक का निशान हो गया था। रतिक्रीडा के समय नायिका के बाजू पर गला रखकर वह सोया था इसलिए उसके गले में अङ्गद (बाजूबन्द) का चिह्न हो गया था। उसने नायिका के नेत्रों का चुम्बन किया था, इसलिए मुख में कज्जल की कालिमा लगी हुई थी और उसके नेत्रों का चुम्बन नायिका ने किया था, इसलिए उसके नेत्रों पर ताम्बूल की ललाई लगी थी। सुबह जब नायक कनिष्ठा के पास से ज्येष्ठा नायिका के पास लौटा तो वह ऐसी साज-सज्जा से विभूषित था जो ज्येष्ठा को क्रुद्ध कर देने वाली थी। प्रिय के इस मण्डन को देखकर हिरन के समान चञ्चल नेत्र वाली नायिका के श्वास लीलाकमल तक जाकर रुक गये, अथवा नायिका के श्वास लीलाकमल के समान मुख के अन्दर ही अन्दर समाप्त हो गये, वह पूरी तरह साँस भी न ले सकी।

जो नायक एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है (स्वप्न में भी दूसरी नायिका के प्रेम की बात नहीं सोचता) वह अनुकूल नायक है।

यथा—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥'

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते—पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः। ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधार्ष्ट्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात्। महाकविप्रबन्धेषु च—

जैसे उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल कोटि के नायक हैं। इसका उदाहरण उत्तररामचरित का यह पद्य दिया जा सकता है:—सीता का प्रेम सुख तथा दुःख दोनों ही अवस्थाओं में एक-सा है, उसमें कोई भी फर्क नहीं आया; वह हर दशा में एक-सा रहा है। सीता का वह प्रेम हृदय को शान्ति देने वाला है, तथा प्रौढावस्था (वृद्धावस्था) के आने पर भी उसकी सरसता में कमी नहीं पड़ी है। अच्छे व्यक्ति का ऐसा अच्छा कल्याणकारी प्रेम, जो समय के व्यतीत होने पर परिपक्व स्नेह में स्थित है, क्योंकि समय ने चांच के पर्दे को हटा दिया है, किसी तरह ही प्राप्त किया जा सकता है।

शृङ्गारी नायकों के भेदोपभेद की गणना हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि नाटिका (उपरूपक) के नायक वत्सराज उदयन आदि को किस कोटि का मानना होगा? (वत्सराज में कभी दक्षिणत्व, कभी शठत्व और कभी धृष्टत्व पाया जाता है, इसलिए एक ही नायक में भिन्न अवस्थाओं के पाये जाने से कोटिनिर्धारण के विषय में शङ्का उपस्थित होना संभव है।), इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक कहता है।

रत्नावलीनाटिका आदि के नायक वत्सराज आदि का जब तक किसी दूसरी नायिका से प्रेम नहीं हो पाता तब तक उसे अनुकूल ही मानना होगा—(जैसे कामदेवपूजा तक वत्सराज अनुकूल कोटि का नायक है); उसके बाद दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर वह दक्षिण बन जाता है। इस पर पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि वत्सराज छिप-छिप कर वासवदत्ता का विप्रिय करता है, तथा इसका पता वासवदत्ता को चल जाता है, वत्सराज की चालाकी प्रकट हो ही जाती है, इसलिए वह शठ तथा धृष्ट क्यों नहीं है? इसीका उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहता है कि वत्सराज को शठ या धृष्ट नहीं माना जा सकता। यद्यपि वत्सराज रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करके वासवदत्ता का अपराध करता है, फिर भी सम्पूर्ण नाटिका में वत्सराज का व्यवहार अपनी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता के प्रति सहृदयतापूर्ण ही रहा है, इसलिए वह दक्षिण कोटि का ही नायक है। यदि इस विषय में पूर्वपक्षी को यह आपत्ति हो कि ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति नायक का स्नेह होना ठीक नहीं (क्योंकि नायक का वास्तविक स्नेह एक से ही हो सकता है); सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों से स्नेह करने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता; साथ ही महाकवियों ने अपने काव्यों में सभी नायिकाओं के साथ दक्षिण नायक के एक-से पक्षपातशून्य प्रेम का चित्रण किया है। इसका उदाहरण यह पद्य दिया जा सकता है :—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥'

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।

तथा च भरतः—

'मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्येत स तु भवेज्ज्येष्ठः' ॥

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति । षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति ।

सहायानाह—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥ ८ ॥

किसी राजा के अन्तःपुर का कंचुकी राजा से आकर अन्तःपुर की रानियों की स्थिति वर्णन करता है, तथा राजा किस रानी के यहाँ रात वितायेंगे, इस विषय में आदेश चाहता है । राजा नीचे की वात सुन कर दो तीन घड़ी तक किसी वात का निर्णय नहीं कर पाता, क्योंकि वह दक्षिण प्रकृति का है, तथा उसका वर्ताव सभी रानियों के साथ सहृदयतापूर्ण है ।

कुन्तलेश्वर की पुत्री रजोदर्शन के वाद आज शुद्ध हुई है, अतः राजा का वहाँ जाना धर्मानुकूल है । अङ्गराज की वहिन की आज वारी है कि आप उसके यहाँ रात्रि वितायें । कमला ने आज की रात जुए में जीत ली है और अप्रसन्न महारानी (देवी) को भी आज खुश करना है । जब जनाने की सारी वातें जानकर मैंने अन्तःपुर की रानियों के विषय में राजा से यह अर्ज किया तो वे किंकर्तव्यविमूढ से होकर दो तीन घड़ी तक चुप से वैठे रहे ।

नाट्याचार्य भरत ने भी ज्येष्ठ (दक्षिण) नायक की परिभाषा यों निवद्ध की है—'ज्येष्ठ नायक मधुर तथा त्यागी होता है, वह राग (विषय) में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के वशीभूत ही होता है और अपमान (तिरस्कार) करने पर वह नारी (ज्येष्ठा नायिका) से विरक्त हो जाता है ।'

इस परिभाषा में 'वह राग में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के वश में ही होता है' इसके द्वारा एक नायिका में दक्षिण नायक का असाधारण स्नेह का होना निषिद्ध किया गया है । इसलिये वत्सराज उदयन पूरे काव्य (रत्नावली) में दक्षिण कोटि का नायक है । नायक पहले सोलह तरह के वताये गये । ये फिर ज्येष्ठ (उत्तम), मध्यम तथा अधम कोटि के भी हो सकते हैं अतः इनके ४८ भेद हो जाते हैं ।

काव्य में नायक के कई साथी व सहायक उपनिवद्ध किये जाते हैं । इनमें प्रधान पताकानायक होता है । इसे पीठमर्द भी कहते हैं । पताकानायक चतुर तथा बुद्धिमान् होता है तथा प्रधान नायक का अनुचर तथा भक्त होता है । वह प्रधाननायक की अपेक्षा गुणों में कुछ ही कम होता है ।

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः, यथा मालतीमाधवे मकरन्दः, रामायणे सुग्रीवः।

सहायान्तरमाह—

एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः, हास्यकारी विदूषकः, अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते। यथा शेखरको नागानन्दे विटः, विदूषकः प्रसिद्ध एव।

अथ प्रतिनायकः—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः॥ ९॥

तस्य नायकस्येत्थंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति, यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ।

कथावस्तु के भेद का वर्णन करते समय आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो तरह की वस्तु बताई गई है। इनमें आधिकारिक का नायक प्रधान नायक होता है। प्रासङ्गिक के दो भेद हैं—पताका व प्रकरी। इसी पताका नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक पीठमर्द कहलाता है तथा वह प्रधान नायक का सहायक होता है। जैसे मालतीमाधव का मकरन्द तथा रामायण का सुग्रीव, जो क्रमशः माधव व राम के सहायक हैं, तथा उनसे गुणों की दृष्टि से कुछ ही कम हैं।

नायक के दूसरे भी सहायक होते हैं, इनमें विट वह है, जो किसी एक विद्या में निपुण होता है, और विदूषक नाटक का मजाकिया पात्र होता है।

नायक के लिए उपयोगी गीत, नृत्य आदि विद्याओं में से किसी एक विद्या का जानने वाला विट तथा हास्यकारी पात्र विदूषक होता है। विदूषक के अजीब तरह के आकार व वेशभूषा हास्य के पैदा करने वाले हैं। नागानन्द नाटक का शेखरक विट है, विदूषक तो प्रसिद्ध है ही।

नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला, नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, घमण्डी, पापी तथा व्यसनी होता है।

उस नायक का शत्रु प्रतिनायक इन विशेषताओं से युक्त होता है। जैसे राम तथा युधिष्ठिर के शत्रु क्रमशः रावण तथा दुर्योधन हैं।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं [1]स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ [2]सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः॥

तत्र (शोभा यथा)—

नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥'

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरः स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम्॥'

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन्।

नायक में पुरुषत्वयुक्त आठ सात्त्विक गुणों का होना आवश्यक है। ये आठ सात्त्विक गुण हैं:—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित तथा औदार्य।

शोभा नामक सात्त्विक गुण वहाँ होता है, जहाँ नायक में शौर्य तथा दक्षता पाई जावे तथा नीच व्यक्ति के प्रति घृणा एवं स्वयं से अधिक व्यक्ति के प्रति स्पर्धा पाई जाती हो।

जैसे महावीरचरित के नायक रामचन्द्र में नीच के प्रति घृणा पाई जाती है।

ताड़ के पेड़ के समान ऊँची ताड़का के उत्पात को देख कर भी रामचन्द्र कम्पित व भयभीत न हुए। फिर भी उसे मारने के लिए नियुक्त होने पर ताड़का के स्त्री होने के कारण वे कुछ विचार करने लगे हैं।

दूसरे के अधिक गुणों को देखकर उसके प्रति स्पर्धा होना भी नायक का शोभा नामक सात्त्विक गुण है। उदाहरण के रूप में यहाँ महादेव के, अर्जुन के गुणों से प्रभावित होकर उससे स्पर्धा करने से सम्बद्ध निम्न पद्य दिया जा सकता है।

'इस सामने की स्थली को जरा गौर से देखो। यही वह जगह है, जहाँ अर्जुन (किरीटी) ने धनुष द्वारा लीला से भील बने हुए महादेव के सिर को तेजी से चोट पहुँचाई थी।' हिमालय में इस प्रकार की—सुभद्रा के पति अर्जुन की अद्भुत कथा सुनकर जिन महादेव ने अपनी दोनों भुजाओं को धीरे-धीरे मण्डलाकार करके सहलाया—(उनकी जय हो)।

जहाँ नायक में अतिशय वीरता पाई जाय वहाँ शौर्यशोभा होगी, जैसे वृत्तिकार धनिक का स्वयं का यह पद्य। नायक रणस्थल में बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ा है तथा मूर्च्छित हो

---

१. 'धैर्य' इति पाठान्तरम्। २. 'सत्त्वजा' इति पाठान्तरम्।

भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्सन्तर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥'

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥'

अथ विलासः—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११ ॥

यथा—

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।

गया है। किन्तु मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह फिर से रणस्थल में आ जाता है, इसी विषय का पद्य है।

यद्यपि उस वीर के पैरों के अग्रभाग अपनी ही अँतड़ियों से बँध गये हैं, फिर भी मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह उठ खड़ा होता है। उसका शरीर घावों से तथा उनमें लगे शस्त्रों से परिपूर्ण है। वीरता का सञ्चार होने के कारण उसके रोंगटे खड़े हो गये हैं, जैसे उसने रोमों का कवच धारण कर लिया है। हारे हुए अपने सैनिकों को वह फिर से जोश दिला रहा है, तथा शत्रु-सैनिकों को निष्ठुरतापूर्वक फटकार रहा है। वह जयलक्ष्मी का निवासस्थान (अथवा जयलक्ष्मी का तेजःस्वरूप) उत्कृष्ट वीर धन्य है, जो उस महान् युद्धस्थल के स्तम्भ पर पताका के समान फहरा रहा है।[1]

नायक में चतुरता का पाया जाना भी एक सात्त्विक गुण है तथा इसका समावेश भी शोभा में ही होता है। दक्षशोभा जैसे वीरचरित के राम में—

समस्त देवताओं के तेज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का अन्त करने वाला, शिव का पिनाक धनुष—जो मानों हजारों कड़कड़ाते कठोर वज्रों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। वत्स राम ने उस अचल धनुष पर इसी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बच्चा सूँड रखता है, और सशब्द प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खींचा तथा तोड़ डाला।

नायक का दूसरा सात्त्विक गुण विलास है। विलास नामक सात्त्विक गुण वह है, जब नायक में धैर्ययुक्त दृष्टि तथा धैर्ययुक्त गति पाई जाय, एवं उसकी वाणी स्मिति से युक्त हो।

उत्तररामचरित में चन्द्रकेतु लव को देखकर उसकी गति तथा दृष्टि के विषय में वर्णन करता कहता है :—

जब वह देखता है तो ऐसा जान पड़ता है जैसे इसकी नजर ने तीनों लोकों की वीरता को तुच्छ समझ रक्खा है। इसकी धीर और उद्धत चाल जैसे पृथ्वी को भी झुका देती है। वैसे तो

---

१. दशरूपककार धनञ्जय व उनके भाई वृत्तिकार धनिक दोनों धाराधीश मुञ्ज के सभा-पण्डित थे। सम्भवतः धनिक ने इस पद्य में मुञ्ज की ही वीरता का वर्णन किया हो।

कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥'

अथ माधुर्यम्—

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥ १२ ॥

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद्गाम्भीर्यम् ।
यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥'

अथ स्थैर्यम्—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

यह कुमारावस्था में ही है, फिर भी पहाड़ के समान गुरुत्व धारण किये हुए है । इसे देखकर ऐसा सन्देह होता है कि यह स्वयं वीर रस ही आ रहा है, या स्वयं मूर्तिमान् दर्प ही ।

नायक का तीसरा सात्त्विक गुण माधुर्य है । जब बहुत बड़े क्षोभ के होने पर भी मामूली सा विकार नायक में पाया जाय, तो वह माधुर्य कहलाता है ।

जैसे नीचे के पद्य में खरदूषण के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भी रामचन्द्र में बहुत ज्यादा विकार नहीं पाया जाता । उनमें बहुत थोड़ा विकार हुआ है, यह इस पद्य के द्वारा ध्वनित होता है ।

रघुकुल के नायक रामचन्द्र हाथी के बच्चे के कोमल दाँत की कान्ति वाले, जानकी के कपोल में, मुसकराते हुए तथा रोमांचित गण्डस्थल वाले अपने मुखकमल को बार-बार देखते हुए तथा राक्षसों की सेना के कोलाहल को सुनते हुए; अपनी जटाओं के जूड़े को दृढ़ कर रहे हैं ।

गाम्भीर्य नायक का वह सात्त्विक गुण है, जब विकार के महान् हेतु के होने पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जब कुछ भी विकार दिखाई नहीं पड़ता ।

माधुर्य तथा गाम्भीर्य दोनों गुण एक दूसरे से भिन्न हैं । माधुर्य गुण में विकार अवश्य पाया जाता है, यह दूसरी बात है कि वह बड़ा कोमल होता है । गाम्भीर्य गुण में विकार का सर्वथा अभाव होता है । गाम्भीर्य गुण के उदाहरण के रूप में रामचन्द्र के विषय में कहा गया यह श्लोक दिया जा सकता है ।

जब उन्हें अभिषेक के लिए बुलाया गया तब और जब उन्हें वन के लिए विदा किया गया तब, दोनों वक्त मैंने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी (थोड़ा सा भी) विकार नहीं देखा ।

स्थैर्य वह सात्त्विक गुण है, जब नायक अनेकों विघ्नों के होने पर भी उनसे चञ्चल नहीं होता हो, वह अपने व्यवसाय (मार्ग) से कभी भी विचलित नहीं होता हो ।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

अथ तेजः—

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३ ॥

यथा—

'अत्र नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥'

अथ ललितम्—

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः, तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा ममैव—

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥'

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥ १४ ॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताववेदनमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥'

सदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥'

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

तद्गुणेति। यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्॥ १५॥

शीलं = सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका।

तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एन्ते॥'

इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से जीमूतवाहन के रूप में दिया जा सकता है। जीमूतवाहन के औदार्य की व्यञ्जना इस पद्य से हो रही है—

'हे गरुड, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो, ऐसा मेरा अन्दाजा है। फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो।'

सज्जनों के अपने अनुकूल बनाने का (सदुपग्रह का) उदाहरण यों दिया जा सकता है।

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह लड़की, हम सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति विरक्त हैं (बाह्य वस्तुओं में कोई आस्था नहीं रखते), जिस किसी से तुम्हारा काम हो, वह कहो।

नायक के वर्णन के साथ ही साथ नायिका का वर्णन भी प्रसंगोपात्त है, अतः उसका विवेचन करते हैं :—

नायिका नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है। यह तीन तरह की होती है—स्वकीया, अन्या (परकीया), तथा साधारण स्त्री।

(स्वीया, जैसे उत्तररामचरित की सीता; साधारण स्त्री जैसे मृच्छकटिक की वसन्तसेना, परकीया का वर्णन काव्यों व नाटकों में अंगीरस के आलम्बन के रूप में नहीं किया जाता। वैसे संस्कृत के कई मुक्तक पद्यों में इसका चित्रण पाया जाता है। जैसे,

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्ति अंगानि॥)

अब स्वीया के विभाग के साथ ही साथ उसका सामान्य लक्षण भी बताते हैं:—

स्वीया नायिका शील, लज्जा आदि से युक्त है। वह सच्चरित्र, पतिव्रता, अकुटिल, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में बड़ी निपुण होती है। यह स्वीया मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा इस प्रकार तीन तरह की होती है।

स्वीया नायिका के शील, आर्जव तथा लज्जा के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं। शीलवती जैसे,

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताववेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्॥'

सदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥'

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

तद्गुणेति। यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्॥ १५॥

शीलं = सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका।

तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एन्ते॥'

इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से जीमूतवाहन के रूप में दिया जा सकता है। जीमूतवाहन के औदार्य की व्यञ्जना इस पद्य से हो रही है—

'हे गरुड, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो, ऐसा मेरा अन्दाजा है। फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो।'

सज्जनों के अपने अनुकूल बनाने का (सदुपग्रह का) उदाहरण यों दिया जा सकता है।

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह लड़की, हम सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति विरक्त हैं (बाह्य वस्तुओं में कोई आस्था नहीं रखते), जिस किसी से तुम्हारा काम हो, वह कहो।

नायक के वर्णन के साथ ही साथ नायिका का वर्णन भी प्रसंगोपात्त है, अतः उसका विवेचन करते हैं:—

नायिका नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है। यह तीन तरह की होती है—स्वकीया, अन्या (परकीया), तथा साधारण स्त्री।

(स्वीया, जैसे उत्तररामचरित की सीता; साधारण स्त्री जैसे मृच्छकटिक की वसन्तसेना, परकीया का वर्णन काव्यों व नाटकों में अंगीरस के आलम्बन के रूप में नहीं किया जाता। वैसे संस्कृत के कई मुक्तक पद्यों में इसका चित्रण पाया जाता है। जैसे,

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्ति अंगानि॥)

अब स्वीया के विभाग के साथ ही साथ उसका सामान्य लक्षण भी बताते हैं:— स्वीया नायिका शील, लज्जा आदि से युक्त है। वह सच्चरित्र, पतिव्रता, अकुटिल, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में बड़ी निपुण होती है। यह स्वीया मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा इस प्रकार तीन तरह की होती है।

स्वीया नायिका के शील, आर्जव तथा लज्जा के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं। शीलवती जैसे,

रतवामा यथा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥'

मृदुः कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥'

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः, यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥'

अथ मध्या—

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान्भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीग्रंथिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः ।

यहाँ लज्जा के कारण आवृत अनुराग की अभिव्यञ्जना मुग्धा नायिका के द्वारा किस तरह की जा रही है, इसका वर्णन एक कवि ने किया है। नायिका नवोढ़ा है, अभी-अभी विवाह के बाद नायक के घर आई है। एक ओर वह राग के कारण पति को देखना चाहती है, दूसरी ओर लज्जा के कारण अपनी उत्सुकता को छिपाती है। इसी का वर्णन यहाँ किया गया है। नायिका किसी पात्र से पानी पी रही है (अथवा शीधुपान कर रही है), समीप स्थित नायक के मुख की परछाई उस पात्र पर पड़ रही है तथा पेय पदार्थ में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। नायिका उसे एकटक देखती है। उधर नायक भी नायिका के समीपस्थ होने के कारण अनुरागवश स्तब्ध हो रहा है, अतः उसका प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत होता है जैसे चित्रित की भाँति चञ्चलताहीन हो। नायिका में राग की भावना उद्बुद्ध होने के कारण उसके रोमाञ्च खड़े हो गये हैं, तथा नायक के प्रतिबिम्ब को देखने में वह इतनी तल्लीन है कि बीच में फूल जैसी छोटी सी वस्तु के विघ्न को भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसके साँस रुक गये हैं, वह निःश्वासों के द्वारा लहरों की शोभा की सृष्टि भी नहीं कर पाती है, क्योंकि नायिका में स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव की उत्पत्ति हो गई है। पेय पदार्थ के पीने या पानपात्र के हिलाने-डुलाने से नायक के मुख के प्रतिबिम्ब का ओझल हो जाना जरूरी है, इसीलिए वह न तो पीती ही है, न पात्र को ही हिलाती है[1]।

स्वीया नायिका का दूसरा भेद मध्या है। मध्या में यौवन व कामवासना प्राप्त हो चुकी होती है, वह यौवन व कामवासना दोनों की दृष्टि से पूर्ण रहती है; तथा सुरतक्रीडा को वह मोह के अन्त तक सहन कर सकती है।

(यौवनवती मध्या)

कामदेव ने सचमुच ही अपने धनुष के किनारे से इस हिरन के बच्चे के समान आँख वाली नायिका के यौवन की कान्ति को छू दिया है, ऐसा मालूम पड़ता है। पहले यह बड़ी बातें बनाती थी, पर अब इसकी बातें कम हो गई हैं, जैसे इसके भौहों के विलास ने इसके आलाप-प्रलाप को कम कर दिया है। जब यह चलती है, तो इसकी चाल सुन्दर ढंग से हाथ के मटकाने से सुशोभित

---

१. ठीक इसी से मिलता-जुलता भाव तुलसी ने भी कवितावली में निबद्ध किया है—
'राम को रूप निहारति जानकि कङ्कन के नग की परछाहीं।
या ते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥'

अथास्या मानवृत्तिः—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम्
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥'

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।

नायक के अपराध करने पर (अन्य नायिका से प्रेम करने पर) धीरा मध्या तानें सुनाकर उसका दिल दुखाती है, धीराधीरा मध्या रोती भी है, साथ ही तानें भी सुनाती है। तीसरी कोटि की अधीरा मध्या रोती है तथा नायक को कड़े वचन सुनाती है।

(मध्याधीरा)

मध्याधीरा कृतापराध प्रिय को तानें मारती है। जैसे शिशुपालवध के सातवें सर्ग का निम्न पद्य।

किसी नायक ने अन्य नायिका से प्रेम करके तथा उसके पास रात्रियापन करके अपराध किया है। वहाँ से लौटने पर ज्येष्ठा नायिका के पास आकर वह उसे खुश करने के लिए पल्लव (किसी वृक्ष का कोमल पत्ता) उसके प्रसाधनार्थ देना चाहता है। नायिका उसे ताना मारती हुई कहती है—माफ कीजिये, हम इस पल्लवदान के उपयुक्त पात्र नहीं हैं। जो कोई तुम्हारी प्रिया हो, जो एकान्त में तुम्हारा पान (चुम्बन) करती हो, तथा (प्रेम करके) तुम्हारी रक्षा करती हो, जाइये, उसे ही यह पल्लव (विटप) अथवा यह शृङ्गारी रसिक जो विटों की रक्षा करता है—सौंपिये। ताकि कम से कम दोनों समान गुण वालों का योग हमेशा के लिए हो जाय। वह तुम्हारी प्रिया तुम जैसे विटों का पान करती है तथा रक्षा करती है, इसलिए 'विटप' है और इधर यह पल्लव भी 'विटप' है तो क्यों नहीं दोनों विटपों का योग करा देते हो।

(यहाँ 'विटप' शब्द में श्लेष है—जिसका अर्थ पल्लव; तथा कामी रसिक व्यक्ति (छैला) दोनों होता है।)

(धीराधीरा मध्या)

धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, साथ ही नायक के दिल को तानें सुनाकर भी दुखाती है। जैसे अमरुकशतक का यह प्रसिद्ध पद्य—

नायक अन्य नायिका से प्रेम करने के कारण अपराधी सिद्ध हो चुका है। जब वह घर पर आता है तो ज्येष्ठा नायिका को मान व रोष से युक्त पाता है। उसे मनाने के लिये वह कुछ कहना चाहता है इसलिए उसे केवल सम्बोधित करना है 'बाले'। इसके पहले कि वह कुछ कह पाये नायिका—क्या कहना चाहते हैं—इस बात की व्यञ्जना कराते हुए केवल 'नाथ' इस प्रकार जवाब देती है। यहाँ यह भी व्यंग्य है कि अब आप मुझसे प्यार नहीं करते हैं इसलिए मैं आपको 'प्रिय' कहते कुछ हिचकिचा रही हूँ। हाँ, मैं आपकी दासी हूँ और आप मेरे स्वामी। इस पर

तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

अधीरा साश्रु पदपातरम्, यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥'

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भःकणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय–
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया।'

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः।

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

यथा च—

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम्।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

न किया, कि वह उस आनन्द की इच्छुक थी, जो नायक के द्वारा हठपूर्वक बालों को पकड़ने और जोर से आश्लेष करने से मिल सकता था। कवि कल्पना (उत्प्रेक्षा) करता है मानो वह हठ-केशकर्षण तथा घनाश्लेष रूपी अमृत की अत्यधिक इच्छुक (लुब्धा) थी। इस उत्प्रेक्षा के द्वारा नायिका का स्वयं क्रीड़ा में प्रवृत्त न होना व्यञ्जित है।

प्रगल्भा नायिका में यौवन का इतना प्रवाह होता है, कि वह मानो अन्धी सी हो जाती है। कामसम्बन्धी भाव भी उसमें इतने अधिक रहते हैं, कि जैसे वह उनमें ही पागल हो गई हो। वह बड़ी ढीठ (प्रगल्भ)—लज्जारहित होती है। रतिक्रीड़ा के समय वह प्रिय के अङ्ग में ऐसी चिपकती है, जैसे उसमें विलीन हो जायगी, और रतिक्रीड़ा में उसे इतना आनन्द आता है, कि सुरतक्रीड़ा की आरम्भिक अवस्था में ही वह अचेतन-सी हो जाती है।

(इसी नायिका को अन्य अलङ्कारशास्त्री व नाट्यशास्त्री प्रौढ़ा भी कहते हैं।)

(गाढ़यौवना या यौवनान्धा प्रौढ़ा)

इसका उदाहरण वृत्तिकार धनिक ने स्वयं अपना ही पद्य दिया है।

इस नायिका के उरःस्थल में स्तन बहुत ज्यादा उठे हुए हैं, नेत्र कानों तक फैले हुए (लम्बे) व टेढ़े हैं; इसकी भौंहें बड़ी टेढ़ी हैं, और इसके वचन उससे भी ज्यादा टेढ़े (व्यंग्ययुक्त) हैं। इसकी कमर बड़ी पतली है, तथा नितम्ब बहुत ज्यादा भारी हैं। इस अद्भुत यौवन वाली नायिका की चाल कुछ धीमी (मन्थर) दिखाई देती है।

नायिका के यौवनान्धत्व का दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है। इस नायिका के स्तन ऊँचे हैं, कमर नीची (पतली) है, और जघनस्थल फिर उठा हुआ है। इस तरह इसका शरीर विषम—ऊँचा नीचा है। हिरन के समान नेत्रवाली इस नायिका के इस विषम तथा नवीन शरीर में कौन नहीं फिसलता है। अर्थात् जो भी इसे देखता है वही कामासक्त हो जाता है। विषमस्थली में कोई भी व्यक्ति चलते समय फिसल सकता है, इसकी भी व्यंग्य रूप में प्रतीति हो रही है।

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय-
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया।'

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः।

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

यथा च—

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम्।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

न किया, कि वह उस आनन्द की इच्छुक थी, जो नायक के द्वारा हठपूर्वक बालों को पकड़ने और जोर से आश्लेष करने से मिल सकता था। कवि कल्पना (उत्प्रेक्षा) करता है मानो वह हठ-केशकर्षण तथा घनाश्लेष रूपी अमृत की अत्यधिक इच्छुक (लुब्धा) थी। इस उत्प्रेक्षा के द्वारा नायिका का स्वयं क्रीड़ा में प्रवृत्त न होना व्यञ्जित है।

प्रगल्भा नायिका में यौवन का इतना प्रवाह होता है, कि वह मानो अन्धी सी हो जाती है। कामसम्बन्धी भाव भी उसमें इतने अधिक रहते हैं, कि जैसे वह उनमें ही पागल हो गई हो। वह बड़ी ढीठ (प्रगल्भ)—लज्जारहित होती है। रतिक्रीड़ा के समय वह प्रिय के अङ्ग में ऐसी चिपकती है, जैसे उसमें विलीन हो जायगी, और रतिक्रीड़ा में उसे इतना आनन्द आता है, कि सुरतक्रीड़ा की आरम्भिक अवस्था में ही वह अचेतन-सी हो जाती है।

(इसी नायिका को अन्य अलङ्कारशास्त्री व नाट्यशास्त्री प्रौढ़ा भी कहते हैं।)

(गाढयौवना या यौवनान्धा प्रौढ़ा)

इसका उदाहरण वृत्तिकार धनिक ने स्वयं अपना ही पद्य दिया है।

इस नायिका के उरःस्थल में स्तन बहुत ज्यादा उठे हुए हैं, नेत्र कानों तक फैले हुए (लम्बे) व टेढ़े हैं; इसकी भौंहें बड़ी टेढ़ी हैं, और इसके वचन उससे भी ज्यादा टेढ़े (व्यंग्ययुक्त) हैं। इसकी कमर बड़ी पतली है, तथा नितम्ब बहुत ज्यादा भारी हैं। इस अद्भुत यौवन वाली नायिका की चाल कुछ धीमी (मन्थर) दिखाई देती है।

नायिका के यौवनान्धत्व का दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है। इस नायिका के स्तन ऊँचे हैं, कमर नीची (पतली) है, और जघनस्थल फिर उठा हुआ है। इस तरह इसका शरीर विषम—ऊँचा नीचा है। हिरन के समान नेत्रवाली इस नायिका के इस विषम तथा नवीन शरीर में कौन नहीं फिसलता है। अर्थात् जो भी इसे देखता है वही कामासक्त हो जाता है। विषमस्थली में कोई भी व्यक्ति चलते समय फिसल सकता है, इसकी भी व्यंग्य रूप में प्रतीति हो रही है।

अथान्यस्त्री—

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः ॥'

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता । कन्यका तु पित्राद्या-

---

नायिका का दूसरा भेद अन्य स्त्री (परकीया) होता है। यह अन्य स्त्री दो तरह की हो सकती है—किसी की अविवाहित पुत्री (कन्या) तथा किसी दूसरे व्यक्ति की परिणीता स्त्री। नाटकादि में अङ्गी (प्रधान) रस के आलम्बन के रूप में अन्योढा (अन्य परिणीता) परकीया का वर्णन कभी भी नहीं करना चाहिए। कन्या के प्रति अनुराग अङ्गीरस का भी अङ्ग हो सकता है, अङ्गरस का भी। अतः कन्या के अनुराग वर्णन में कोई दोष नहीं है।

(नायकान्तरसम्बन्धिनी परकीया)

यत्तत्त्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः। यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिका-मलयवत्यनुराग इति।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्॥ २१॥

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निदर्शितः। दिङ्मात्रं तु—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत्॥ २२॥

कन्यका को अन्य स्त्री (परकीया) इसलिये कहा जाता है कि वह शादी न होने के पहले पिता आदि के अधीन होती है। उस कन्या को पिता आदि के द्वारा निगृहीत होने के कारण यद्यपि प्राप्त नहीं किया जा सकता, फिर भी वह सुलभ है, फलतः नायक छिप छिप कर उससे प्रेम करता है, क्योंकि वह नायिका दूसरे लोगों के वश में होती है, या फिर नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका (स्वकान्ता) से डरता है। जैसे एक ढङ्ग का छिपा प्रेम मालतीमाधव में माधव का मालती के प्रति है, दूसरे ढङ्ग का रत्नावली नाटिका में सागरिका के प्रति वत्सराज उदयन का है। एक स्थान पर 'परोपरोध' तथा दूसरे स्थान पर 'स्वकान्ताभय' छिपे प्रेम के कारण हैं। कवि इस प्रकार के प्रेम को अपनी इच्छा से प्रधान या अप्रधान दोनों प्रकार के रसों में निबद्ध कर सकता है। जैसे रत्नावली व नागानन्द में क्रमशः सागरिका तथा मलयवती का प्रेम। रत्नावली नाटिका में सागरिका का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध है, जब कि नागानन्द में मलयवती व जीमूतवाहन का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि वहाँ प्रधान रस जीमूतवाहन की दयावीरता का अभिव्यञ्जक वीर रस है।[1]

तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री है, यह गणिका होती है, जो कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है।

इसका व्यवहार दूसरे शास्त्र (वात्स्यायनादि) में विस्तार से दिखाया गया है। यहाँ उसका संकेत भर दिया जाता है।

जो लोग छिपकर कामतृप्ति करना चाहते हैं, जिनसे बड़ी सरलता से पैसा ऐंठा जा सकता है, जो बेवकूफ (मूर्ख) हैं, आजाद हैं, घमण्डी हैं, या नपुंसक हैं, ऐसे लोगों से गणिका ठीक इसी तरह व्यवहार करती है, जैसे वह उन्हें सचमुच प्रेम करती हो, किन्तु उसी वक्त तक, जब तक कि उनके पास पैसा है। जब वह देख लेती है, कि वे गरीब (निःस्व) हो गये हैं, तो वह उन्हें अपनी माँ के द्वारा घर से निकलवा देती है।

नेष्टं यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशसया रतिविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥

(उज्ज्वलनीलमणि में उद्धृत, पृ० ९९)

१. प्रभा के निबद्धा सुदर्शनाचार्य का इस सम्बन्ध में—मलवत्यनुरागश्चाऽप्रधानरस-(शृङ्गार) समाश्रयः जीमूतवाहनस्य तत्रत्यनायकस्य प्राधान्येन शान्तरसनायकत्वादिति विवेकः—यह कल्पना चिन्त्य है। क्योंकि धनञ्जय व धनिक दोनों के मत के यह विरुद्ध पड़ता है, जो शान्तरस को नवां रस नहीं मानते। (दे० प्रकाश ४, का. ३५) वे नागानन्द का रस 'वीर' मानते हैं:—
अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्रस्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात्।

छद्मं ये कामयन्ते ते छद्मकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुखार्थः अप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहंयुरहङ्कृतः पण्डको वातपण्डादिः, एतान्वहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्—तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः, गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय । इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।

रूपकेषु तु—

[1]रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे *सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय । अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः ।*

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम्। स्वयमगमनान्नत्यकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम्। एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा, तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः,—उक्त्या नायात इति प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति।

है। इसी को आगे स्पष्ट करते हैं कि ये अवस्थाएँ आठ से कम नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनमें से किसी का भी एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

वासकसज्जादि नायिका-कोटि का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिकादि दूसरी कोटि में नहीं किया जा सकता। वासकसज्जा और स्वाधीनपतिका एक नहीं मानी जा सकतीं (स्वाधीनपतिकात्व की स्थिति वासकसज्जा में नहीं पाई जा सकती), क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति उसके समीपस्थ होता है, जब कि वासकसज्जा का पति (प्रिय) आसन्न या नायिका के समीपस्थ नहीं होता। वासकसज्जा नायिका का वह भेद है, जब कि नायक आने वाला है और उसकी प्रतीक्षा में वह साज-सज्जा से विभूषित हो रही है, इस प्रकार वासकसज्जा एष्यत्प्रिया (जिसका पति आने वाला हो वह) है। अगर इस एष्यत्प्रिया को भी स्वाधीनपतिका मान लिया जायगा, तो फिर प्रोषितप्रिया को भी अलग से मानने की क्या जरूरत है। देखा जाय तो एष्यत्प्रियात्व उसमें भी पाया जाता है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय, कि वासकसज्जा तथा उसके प्रिय के बीच का देशकाल का व्यवधान कम है, तथा प्रोषितप्रिया तथा उसके प्रिय के बीच का देशकाल का व्यवधान लम्बा है तो हम इस व्यवधान की कोई निश्चित सीमा नहीं बता सकते कि यहाँ तक समीपता (आसत्ति) मानी जायगी और इसके बाद दूरी। हमारे पास व्यवधान के कोटिनिर्धारण की कोई तराजू तो नहीं है। साथ ही खण्डिता जैसे भेद को भी अलग मानना ही होगा, क्योंकि खण्डिता वही है जिसे प्रिय के अपराध का पता लग जाता है। जिसे प्रिय के अपराध का पता नहीं चलता (अविदितप्रियव्यलीका), वह खण्डितात्व से युक्त नहीं हो सकती। जो नायिका किसी नायक के साथ रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त है या रति की इच्छा से युक्त है, उसे प्रोषितप्रिया नहीं माना जा सकता। साथ ही ऐसी नायिका को अभिसारिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह खुद नायक के पास नहीं जाती, तथा उसमें नायक के प्रति प्रयोजकत्व नहीं पाया जाता। अभिसारिका में नायक को अपने पास बुलाने का या स्वयं उसके पास जाने का धर्म पाया जाता है। इस तरह उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) भी उपर्युक्त स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, प्रोषितप्रिया, खण्डिता या अभिसारिका से भिन्न है। जो नायिका नायक के आने के उचित समय के व्यतीत हो जाने पर उसके न आने से व्याकुल रहती है, वह वासकसज्जा नहीं मानी जा सकती, उसे विरहोत्कण्ठिता ही मानना होगा। इसी तरह विप्रलब्धा भी वासकसज्जा की तरह दूसरी अवस्था वाली नायिकाओं से भिन्न ही है। विप्रलब्धा का प्रिय आने का वादा करके भी नहीं आया है इस प्रकार वहाँ प्रतारणा (छल) की अधिकता पाई जाती है, इसलिए विप्रलब्धा वासकसज्जा तथा उत्कण्ठिता दोनों से भिन्न है। खण्डिता नायिका अपने प्रिय के परनारीसम्भोग रूप

तत्र—

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥'

यथा वासकसज्जा—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥'

अपराध को जान जाती है; कलहान्तरिता में भी यह बात तो खण्डिता के समान ही पाई जाती है; किन्तु वह नायक के अनुनय विनय करने पर भी नहीं मानती, तथा प्रसन्न नहीं होती, बाद में जब नायक चला जाता है तो पश्चात्ताप के कारण प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार कलहान्तरिता खण्डिता से भिन्न सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि नायिकाओं में आठ ही अवस्थाएँ हैं।

जिस नायिका का प्रिय समीप में रहता है तथा उसके अधीन होता है, तथा जो नायक की समीपता के कारण प्रसन्न रहती है, वह स्वाधीनभर्तृका कहलाती है। जैसे,

कोई सखी किसी स्वाधीनभर्तृका के गर्व को देखकर उससे कह रही है। मेरे कपोलफलक पर प्रिय के स्वय के हाथों से चित्रित पत्रावली (मञ्जरी) विद्यमान है—यह समझ कर घमण्ड न करो। हे सखि, अगर कान्त के समीपस्थ होने तथा उसके स्पर्श से जनित कम्प शत्रु बन कर विघ्न न करे, तो क्या कोई दूसरी नायिका ऐसी ही पत्रावलियों का पात्र नहीं बन सकती। दूसरी नायिका भी कान्त के अपने हाथ से चित्रित पत्रावली से युक्त हो सकती है, किन्तु कान्त के स्पर्श के कारण उनमें इतना कम्प हो जाता है, कि कान्त पत्रावली नहीं लिख पाता।

(व्यंग्य है—क्यों घमण्ड करती हो, पति के समीपस्थ होने पर भी तुम किसी प्रकार के कम्पादि सात्त्विक भाव का अनुभव नहीं करती, तुम्हारी सहृदयत्वशून्यता है। सच्चे राग को तुम क्या जानो।)

वासकसज्जा वह नायिका है, जो प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।

वासकसज्जा प्रिय के आने के समय के समीप होने पर अपने आपको व अपने घर को खुशी से सजाती है। इसका उदाहरण शिशुपालवध के नवम सर्ग का यह पद्य दिया जा सकता है:—

कोई नायिका अपने हाथ रूपी पल्लव के किनारे से स्खलित होने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उड़े हुए मुख-कमल के वायु (मुखश्वास) के द्वारा धीरे से अपने मुँह की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हो रही थी।

अथ विरहोत्कण्ठिता—

चिरयत्यव्यलीके तु [1]विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

'सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
परिणतमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ॥'

अथ खण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'

अथ कलहान्तरिता—

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

प्रिय (पति) के अपराधी न होने पर भी देर करने पर जो नायिका उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है, वह विरहोत्कण्ठिता है ।

किसी नायिका के प्रिय के आने का समय व्यतीत हो चुका है। आधी रात होने को आई, पर वह अभी तक नहीं आया है। इससे नायिका बड़ी उत्कण्ठित होकर अपनी सखी से कह रही है। हे सखि, ऐसा जान पड़ता है कि किसी दूसरी स्त्री ने वीणा आदि वाद्यों के द्वारा उसे जीत लिया है। सचमुच ही उन दोनों में रात भर क्रीड़ा करने की शर्त हो चुकी है। अगर ऐसा नहीं होता, तो हरसिङ्गार के फूल के झर जाने पर भी और चन्द्रमा के आकाश के बीच में आ जाने पर भी, मेरा प्रिय क्यों देर कर रहा है।

जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध पता हो जाय, तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे, तो वह खण्डिता कहलाती है।

जैसे शिशुपाल के ग्यारहवें सर्ग का निम्न पद्य।

कोई नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है। वह अन्य नायिकादत्त अपने नखक्षत व दन्तक्षत को उत्तरीय आदि से छिपा रहा है। नायिका यह सब समझती हुई कहती है। तुम अपने उत्तरीय से नवीन नखक्षत के चिह्न से युक्त अङ्ग को छिपा रहे हो। अन्य स्त्री के दाँतों से काटे हुए ओठ (अधरोष्ठ) को हाथ से ढँक रहे हो। लेकिन चारों दिशाओं में फैलता हुआ; अन्य स्त्री के सम्भोग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमलगन्ध (सुगन्धि) किसके द्वारा छिपाया जा सकता है? तुम नखक्षत व दन्तक्षत को लाख छिपाओ, तुम्हारी देह से आने वाली यह नई खुशबू ही किसी दूसरी स्त्री के साथ की हुई रतिक्रीड़ा की सूचना दे रही है।

कलहान्तरिता नायिका वह है, जो नायक के अपराध करने पर क्रोध से उसका तिरस्कार करती है, बाद में अपने व्यवहार के विषय में पश्चात्ताप करती है।

---

१. 'विरहोत्कण्ठिता मता' इति पाठान्तरम् ।

यथा—

'निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः॥'

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता॥ २६॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः॥'

अथ प्रोषितप्रिया—

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति।

निपुणं तयैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥'

तत्र—

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥ २८ ॥

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति व्यवस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति—अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येव धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनानन्तरम् 'राजा—

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥'

इत्यादि, तत्र न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ।

तथाऽनुपजातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वम्—अनायत्तप्रियत्वादेवेति ।

अथासां सहायिन्यः—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

दासी = परिचारिका । सखी = स्नेहनिबद्धा । कारूः = रजकीप्रभृतिः । धात्रेयी = उपमातृसुता । प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी । लिङ्गिनी = भिक्षुक्यादिका । शिल्पिनी = चित्रकारादिस्त्री । स्वयं चेति दूतीविशेषाः नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः । तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति—

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥'

तत्र सखी यथा—

'मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी ।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ॥'

यथा च—

'सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥'

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥ ३३ ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे—

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥'

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः । यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥'

निर्विकारात्मक सत्त्व से जब विकार का सर्वप्रथम विस्फुरण पाया जाता है, तो इसी प्रकार के प्रथम स्फुरण को 'भाव' कहते हैं ।

मानवप्रकृति में सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण माने जाते हैं । इन गुणों में से सत्त्व की यह विशेषता है, कि विकार को उत्पन्न करने वाले कारण के विद्यमान होने पर भी विकार नहीं हो पाता (विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः)। इसी को पहले नायक के गुणों में 'गाम्भीर्य' कहा गया है । इस सत्त्व का उदाहरण कुमारसम्भव का यह पद्य दिया जा सकता है—

अप्सराओं के सङ्गीत को सुनकर भी महादेव उसी क्षण समाधि में स्थित हो गये । जितेन्द्रिय तथा जितात्मा व्यक्तियों की समाधि को कोई भी विघ्न भङ्ग नहीं कर सकता ।

इस प्रकार सत्त्व वह अवस्था है, जब कि व्यक्ति सर्वथा निर्विकार रहता है । इस अवस्था के बाद विकार की जो सर्वप्रथम अवस्था पाई जाती है, जिसमें विकार बड़ा अस्फुट रूप से रहता है 'भाव' कहलाती है । यह विकार शरीर के अन्तस् में ही छिपा रहता है, और इसकी तुलना बीज की उच्छूनता से की जा सकती है । जिस तरह पानी, मिट्टी आदि संयोग से अङ्कुरित होने के पहले बीज कुछ उच्छून हो जाता है । इस समय बीज में विकार तो होता है, पर वह विकार बीज के अन्तस् में ही होता है, इसी प्रकार नायिका के अन्तस् में पाया जाने वाला (शृङ्गार) विकार 'भाव' नाम से अभिहित होता है ।

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥'

यथा वा ममैव—

'तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ ॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥')

अथ हावः—

अल्पालापः सश्रृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारः स्वभावविशेषो हावः यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहातहच्चेअ ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेह ॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणा भणमानां रे यथातथैव ।
निर्ध्याय स्नेहमुग्धा वयस्य मुग्धा पश्य ॥')

यह बाला धीरे धीरे नवीन यौवन के आविर्भाव से युक्त हो रही है। अथवा यह नायिका नवीन यौवन के द्वारा अवलम्बित या अवरुद्ध (अवष्टभ्यमान) हो रही है।

अथवा जैसे कुमारसम्भव में महादेव में विकार का प्रथम स्फुरण पाया जाता है। इसी का वर्णन कालिदास ने यों किया है :—

कामदेव के बाण मारने पर महादेव का धैर्य कुछ कुछ उसी तरह लुप्त हो गया, जैसे चन्द्रोदय की आरम्भिक दशा में समुद्र चञ्चल हो उठता है। उन्होंने बिम्बाफल के समान अधरोष्ठ वाले सुन्दर पार्वती के मुख की ओर अपने नेत्रों को डाला।

अथवा जैसे धनिक की बनाई हुई निम्न प्राकृत गाथा में भी नायिका के 'भाव' नामक शरीरज अलङ्कार का वर्णन है :—

उस नायिका की बातचीत (वचन) भी वही है, नेत्र भी वही हैं, यौवन भी वही है; इनमें कोई भी परिवर्तन दिखाई नहीं देता। लेकिन उसके शरीर में भिन्न प्रकार की काम-शोभा दिखाई पड़ती है, जो दूसरे ढङ्ग का प्रभाव (लोगों पर) डालती है।

नायिका में बातचीत कम करने की अवस्था का होना तथा शृङ्गार का होना 'हाव' कहलाता है। यह 'हाव' आँख, भौंह आदि में विकार उत्पन्न करता है।

निश्चित अङ्गों में विकार करने वाला शृङ्गार 'हाव' कहलाता है, यह 'हाव' स्वाभाविक तथा शरीरज अलङ्कार है। जैसे धनिक की ही यह गाथा नायिका के 'हाव' की व्यञ्जना करती है :—

हे मित्र, उस नायिका के देखते हुए या बोलते हुए, दोनों का जो कुछ असर होता है, वह एक-सा ही होता है। या तो तुम स्नेहमुग्धा भोली नायिका को दृष्टिपात करते देखो, या बोलते देखो, एक-सा अनुभव होगा। यही नायिका का दृष्टिपात भी आह्लादकारक है। इस प्रकार इसमें 'हाव' की स्थिति सूचित की गई है।

यथा वा—'तेनोदितं वदति याति तथा यथाऽसौ' आदि ।

अथ विलासः—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः । यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

अथ विच्छित्तिः—

आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३८ ॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥'

अथ विभ्रमः—

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।

तथा—'दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम् ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥'
('दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुप्तस्य ॥')
यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि ।
अथ धैर्यम्—
चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।
चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति यथा मालतीमाधवे—
'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'
अथ स्वाभाविका दश, तत्र—
प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ३७ ॥
प्रियाकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला ।
यथा ममैव—'तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं ॥'
('तथा दृष्टं तथा भणितं तया नियतं तथा तथासीनम् ।

यथा वा—'तेनोदितं वदति याति तथा यथाऽसौ' आदि ।

अथ विलासः—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः । यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

अथ विच्छित्तिः—

आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३८ ॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥'

अथ विभ्रमः—

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।

प्रिय के दर्शनादि के समय नायिका की अङ्गचेष्टाओं तथा बोल-चाल में, जो विशेष प्रकार का तात्कालिक विलास पाया जाता है, उसे विलास कहते हैं ।

जैसे मालतीमाधव में—

इसी बीच में लम्बी आँखों वाली मालती का कामदेव सम्बन्धी विजयी आचार्यत्व प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता वाग्विलास से बढ़ गई थी; जो विलास व विभ्रम से युक्त था; तथा जो अत्यधिक सात्त्विक भावों के कारण विशेष रमणीय हो गया था ।

थोड़ी सी वेषभूषा व साज-सज्जा भी जहाँ कान्ति को अधिक पुष्ट करती है, वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है ।

जैसे कुमारसम्भव में पार्वती के वर्णन में—

प्रसाधन करते समय पार्वती के कान में लगाया गया यव का प्ररोह; लोध्र-चूर्ण के कारण रूखे तथा गोरोचन की पत्रावली से अत्यधिक गोरे उसके कपोल पर विशेष सुन्दरता प्राप्त कर (लोगों की) दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था ।

जल्दी के कारण समय पर आभूषणों का उलट-पलट पहन लेना विभ्रम कहलाता है । जैसे—

चन्द्रमा के उदय होने पर; प्रिय नायक की दूतियों के सुन्दर वचनों से उल्लसित नेत्र व मन

अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥'

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वाऽऽयातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥ ३९ ॥

यथा ममैव—

'रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥'

अथ मोट्टायितम्—

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् ।

यथा पद्मगुप्तस्य—

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।

यथा वा—

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
र्जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम्।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः॥'

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः॥'

अथ कुट्टमितम्—

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधरग्रहे॥ ४०॥

यथा—

'नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणा-
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः॥'

अथ बिब्बोकः—

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

अथवा,

हे सखी (माई), तुम किसे हृदय में बैठाकर बड़ी देर से रोमाञ्चित होकर अपनी दृष्टि को, जिसकी पुतलियाँ जँभाई के कारण निश्चल हो गई हैं, तथा जो सुन्दर अपाङ्ग वाली है—धारण करती हुई, सोई-सी, चित्रित-सी, शून्य हृदय होकर केवल मूर्तिमती बन गई हो। हे आत्म-द्रोहिणि, क्या कामदेव गुप्त रूप से तुम्हें परेशान कर रहा है, लज्जा क्यों करती हो मुझे बताओ तो सही।

अथवा जैसे धनिक के इस पद्य में—

कोई दूती या सखी नायक के पास आकर नायिका की दशा का वर्णन करती हुई कहती है :—हे सुन्दर युवक, जब सखियाँ उस नायिका की कामपीड़ा के गुप्त कारण को जानने के लिए तुम्हारी बातचीत छेड़ती हैं, तो वह अपनी पीठ को मरोड़ कर पीन स्तनों को ऊँचा करती हुई, हाथों को फैलाकर समेटती हुई, अङ्गभङ्ग तथा जँभाई से युक्त हो जाती है।

रतिक्रीडा में नायक के द्वारा केश तथा अधर को ग्रहण करने पर दिल से प्रसन्न होने पर भी जब नायिका बाहर से क्रोध करे, तो वह कुट्टमित भाव कहलाता है।

प्रियतम के द्वारा अधर-दंशन करने पर हाथ को फटकारती नायिका का सीत्कार से युक्त वह सूखा रोना विजयी है (सर्वोत्कृष्ट है), जो रतिक्रीडा के नाटकीय विलासों का नान्दीपद (मङ्गलाचरण) है, तथा कामदेव (स्मर) के परम आज्ञाक्षर-आदेश-हैं।

जब नायिका गर्व तथा अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखाती है, तो उसे बिब्बोक नामक भाव कहते हैं।

वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद्दुनोति ॥'

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहायः।

तत्र विभागमाह—

मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः। शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति।

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥

ब्रह्म = वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

जिसका मुँह अपने आप में किसी वचन को छिपाये था, जिसके ओठ कुछ-कुछ फड़क रहे थे, तथा जो लज्जा से नम्र हो रहा था; सुनकर हृदय में छिपी बात भी न कहा; यह बात मेरे मानस को पीड़ित कर रही है।

नायक के शृङ्गारी सहायकों का वर्णन किया जा चुका है। अब उसके दूसरे कार्यों के सहायकों का वर्णन करते हैं:—

यदि नायक राजा होता है तो उसके अर्थादि-राजनीति आदि की चिन्ता करने में मन्त्री या वह स्वयं सहायक होता है। कभी-कभी मन्त्री व नायक स्वयं दोनों ही इन राजनीति सम्बन्धिनी (तन्त्रावाप[1] आदि की) चिन्ता में व्यस्त रहते हैं।

उपर्युक्त धीरोदात्तादि नायकों में धीरललित के समस्त कार्यों की सिद्धि मन्त्री के ही आधीन होती है; अन्य नायकों की सिद्धि मन्त्री तथा स्वयं दोनों पर निर्भर रहती है।

(यहाँ यह स्पष्ट है कि धीरप्रशान्त के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकेगी।)

नायक के धर्माचरण में ऋत्विक् (यजनकर्ता), पुरोहित, तपस्वी तथा ब्रह्मज्ञानी महात्मा सहायक बनते हैं।

नायक के राजा होने पर उसके दण्डविधान में सहायता करने वाले मित्र (राजा), युवराज, आटविक (वनविभाग के लोग; अथवा अरण्यनिवासी) सामन्त तथा सैनिक होते हैं।

---

१. अपने राष्ट्र की चिन्ता 'तन्त्र' तथा परराष्ट्र की चिन्ता 'आवाप' कहलाती है। मिलाइये माघ का यह पद्य—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ (२. ८८)

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥ ४४ ॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राज्ञः स्यालो हीनजातिः ।

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च निरूपणा ॥ ४५ ॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिना ।

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन निरूपणा, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ? ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥ ४६ ॥

उक्तो नायकः, तद्व्यापारस्तूच्यते—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः, सा च कैशिकी-सात्त्वती-आरभटी-भारतीभेदाच्चतुर्विधा, तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदुः शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी। सा तु—

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते।

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८ ॥
हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥
शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५० ॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म, तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन सभयहास्येन रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन–सम्भोगेच्छाप्रकाशन–सापराध-

---

वृत्ति का तात्पर्य नायक का वह व्यापार या स्वभाव है, जो नायक को किसी विशेष ओर प्रवृत्त करता है। ये प्रवृत्तियाँ चार हैं :—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती। इनमें से गीत, नृत्य, विलास, कामक्रीडा आदि से युक्त कोमल तथा शृङ्गारी व्यापार, जिसका फल काम (पुरुषार्थ) है, कैशिकी वृत्ति कहलाता है।

इस कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग माने जाते हैं :—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ।

कारिका के 'तत्' शब्द से सभी जगह नर्म का अन्वय अभीप्सित है।

प्रिय नायिका (या नायिका पक्ष में प्रिय) के चित्त को प्रसन्न करने वाला विलासपूर्ण व्यापार 'नर्म' कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—हास्य से युक्त नर्म, शृङ्गार से युक्त नर्म तथा भय से युक्त नर्म। इनमें प्रथम भेद हास्य से युक्त होता है; दूसरा शृङ्गारी नर्म तीन प्रकार का होता है, १. आत्मोपक्षेपपरक, जहाँ नायक या नायिका स्वयं के प्रेम को प्रकट करते हैं; २. सम्भोगपरक, जहाँ सम्भोग की इच्छा प्रकट की जाय; तथा ३. मानपरक, जहाँ प्रिय के अनिष्ट करने पर नायिका मान करती है। भययुक्त नर्म दो तरह का होता है—शुद्ध तथा अङ्ग। ये छः प्रकार के नर्म वाक्, वेष तथा चेष्टा के त्रिविध प्रकार के अनुसार १८ प्रकार के हो जाते हैं। इन सभी नर्म प्रकारों में हास्य का समावेश तो रहता ही है।

नर्म उस हँसी मजाक (परिहास) को कहते हैं जो प्रियजन को प्रसन्न करने वाला सभ्यतापूर्ण (अग्राम्य) व्यवहार है। इसका प्रमुख तत्त्व हास्य है, अतः यह हास्य कभी तो केवल रूप में, केवल शृङ्गार से युक्त होकर तथा कभी भय से युक्त होकर पाया जाता है। इस तरह नर्म के तीन प्रकार होते हैं :—१. शुद्ध हास्य, २. शृङ्गारी हास्य, ३. भययुक्त हास्य। दूसरे ढंग का शृङ्गारी हास्य—१. स्वानुरागनिवेदन, २. सम्भोगेच्छाप्रकाशन, तथा ३. मान इस प्रकार तीन तरह का होता है। भय वाला हास्य भी १. शुद्ध तथा २. रसान्तराङ्ग (किसी दूसरे रस का अङ्गभूत होकर) इस तरह दो तरह का होता है।, इस तरह शुद्ध हास्य (१), शृङ्गारी

प्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम्, एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम्।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥'

वेषनर्म नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे। क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्र उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति। एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम्।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः॥'

सम्भोगनर्म यथा—

'सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥'
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ॥')

माननर्म यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे 'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण ता देविए णिवेदइस्सम्' (ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद्देव्यै निवेदयिष्यामि ।') इत्यादि ।

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।

---

३. सम्भोगनर्म का उदाहरण—

सूर्य के दृष्टिगोचर रहते हुए भी (दिन में ही) गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर, उसके इच्छा न करते हुए भी, हँसती हुई हिला रही है ।

४. माननर्म का उदाहरण (माघ के एकादश सर्ग में) जैसे—

अपराधी नायक से नायिका व्यंग्य में कह रही है । तुम जो कहा करते थे कि मैं तुम्हारी प्यारी हूँ, वह बिलकुल सच है । क्योंकि तुम अपनी प्यारी के द्वारा पहने दुकूल को पहन कर यहाँ मेरे घर पर आये हो । ठीक है, कामी व्यक्तियों की वेशभूषा का शृङ्गार वल्लभाओं (प्रियाओं) के देखने से सफल हो जाता है । यदि मैं तुम्हारी प्यारी न होती, तो तुम यह शृङ्गार बताने थोड़े ही आते ।

(नायक भूल से दूसरी नायिका के दुकूल को पहन कर प्रातः काल ज्येष्ठा के पास लौटा है । यह बड़े मीठे तथा व्यंग्य भरे ढङ्ग से मानपूर्वक परिहास कर रही है ।)

५. भयनर्म, जैसे रत्नावली नाटिका में चित्रदर्शन के अवसर पर सुसङ्गता की यह उक्ति—'अच्छा ! मैंने यह सारी बात जान ली है । मैं इस बात को इस चित्रफलक के साथ देवी वासवदत्ता को निवेदित करूँगी ।'

६. भयनर्म का दूसरा भेद वह है, जहाँ भय किसी रस का अङ्ग बन जाय । यहाँ शृङ्गार के अङ्गभूत भयनर्म का उदाहरण धनिक ने स्वरचित पद्य के रूप में दिया है :—

नायक का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिये नायिका बड़ा मान किये है । नायक कई प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल ही होता है । इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोच-विचार करता है, फिर युक्ति

इतः पृष्टे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्'

अथ नर्मस्फिञ्जः—

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः—

'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥'

'मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि ।' ('भर्तः, देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।') इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्दः—

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती, तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

तत्र—

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

यथा वीरचरिते—'रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः ! परशुरामः—राम राम दाशरथे ! स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ॥'

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति ।

अथोत्थापकः—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५३ ॥

यथा वीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।

त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

अथ साङ्घात्यः—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ॥ ५५ ॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा वीरचरिते—

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥

रामः—भगवन् ! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।' इत्यादि ।

सात्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवाः फेरवाः ॥'

इत्यादि ।

अथाऽवपातः—

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'कण्ठे कृत्वाऽवशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥'

यथा च प्रियदर्शनायां (प्रियदर्शिकायाम्) प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ।

उपसंहरति—

एभिरङ्गैश्चतुर्वेयम्, नार्थवृत्तिरतः परा ।

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥ ६४ ॥

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् = प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् । सौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥ ६५ ॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥ ६६ ॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥ ६७ ॥

आर्याविति सम्बन्धः ।

जहाँ तक उनकी भाषा के नाटक में बोलने (पाठ्य) का प्रश्न है, इस विषय में एक विशेषता यह है कि—नाटक में कुलीन कृतात्मा पुरुषों की भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए। तपस्विनियों, महारानी, मंत्रिपुत्री तथा वेश्याओं के सम्बन्ध में कहीं कहीं संस्कृत पाठ्य का सन्निवेश किया जा सकता है।

स्त्रीपात्रों का पाठ्य प्रायः प्राकृत—शौरसेनी प्राकृत—होता है। और अधम जाति के अकुलीनपात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि जो स्वभाव से आया हो (प्रकृतेरागतम्), अथवा इसकी दूसरी व्युत्पत्ति 'प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न' (प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवम्) है। ये प्राकृत शब्द तद्भव, तत्सम, देशी इस प्रकार अनेक प्रकार के होते हैं। शौरसेनी तथा मागधी अपने अपने देशकालानुसार नाटक में प्रयुक्त होती हैं।

पिशाच तथा अत्यन्त अधम पात्रों (चाण्डालादि) की भाषा पैशाची या मागधी हो। जो नीचपात्र जिस देश का रहने वाला है, उसी देश की बोली के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा नाटक में नियोजित की जाय। वैसे कभी उत्तम आदि पात्रों की भाषा में किसी कारण से व्यतिक्रम भी पाया जा सकता है कि उत्तम पात्र प्राकृत बोलें या अधम पात्र संस्कृत बोलें, (पर यह सदा नहीं हो सकता।)।

अब कौन पात्र किस पात्र को किस तरह सम्बोधित करे इसे बताते हैं :—

उत्तम पात्रों के द्वारा विद्वान्, देवर्षि तथा तपस्वी पात्र 'भगवान्' इस तरह सम्बोधित किये जाने चाहिए। विप्र, अमात्य तथा गुरुजनों या बड़े भाई (अग्रज) को वे 'आर्य' इस तरह सम्बोधित करें। नटी व सूत्रधार आपस में एक दूसरे को 'आर्य' व 'आर्ये' इस तरह सम्बोधित करें।

---

१. 'शूरसेनी' 'शौरसेनी' इत्यपि पाठौ।

रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥ ६८ ॥

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः । स च सूत्रिणा मार्ष इति ।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ ६९ ॥
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः ।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः—

समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ॥ ७० ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥ ७१ ॥

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा-
नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।

सारथी अपने रथी वीर को आयुष्मान् कहे; तथा पूज्य लोग शिष्य, पुत्र या छोटे भाई आदि को भी 'आयुष्मान्' ही कहें, अथवा 'वत्स' तथा 'तात' कहें। शिष्य, पुत्र, छोटे भाई आदि पूज्यों को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' आदि कह सकते हैं।

पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहे तथा सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष' (मारिष) के नाम से सम्बोधित करे।

उत्तम नौकर राजा को 'देव या स्वामी कहें और अधम भृत्य उसे 'भट्टा' (भर्तः) कहें। ज्येष्ठ, मध्यम या अधम पात्र स्त्रियों को ठीक उसी तरह सम्बोधित करें, जैसे उनके पतियों को।

विद्वानों, देवताओं आदि की स्त्रियों को देवर आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें। जैसे ऋषिपत्नियों, तपस्विनियों या देवियों को 'भगवति' कहें; ब्राह्मणियों या पूज्या स्त्रियों को 'आर्ये' कहें।

स्त्रियों के सम्बोधन में जो विशेषता पाई जाती है, उसका उल्लेख करते हैं:— सखियाँ एक दूसरे को 'हला' कहें। नौकरानी (प्रेष्या) 'हञ्जे' कहे, वेश्या को अज्जुका' कहा जाय। कुट्टिनी को लोग 'अम्ब' कहें, तथा पूज्य वृद्धा स्त्री को भी 'अम्ब' ही कहें। विदूषक रानी व सेविका दोनों को 'भवती' शब्द से सम्बोधित करे।

नायक की विभिन्न दशाओं के अनुरूप चेष्टा, गुण, उदाहरण (उक्ति), सत्त्व तथा भावों का निःशेष वर्णन कौन व्यक्ति कर सकता है, जो नाट्याचार्य महर्षि भरत या देव चन्द्रशेखर नहीं। अर्थात् इसका निःशेष सर्वाङ्ग वर्णन करने में तो महर्षि भरत तथा

---

१. 'कुट्टिन्यनुगतैः पूज्या अम्बेतिजरतीजनैः' इति पाठान्तरम् ।

को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः । चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृत-प्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥



देवाधिदेव महादेव ही समर्थ हैं। अतः मेरे जैसा अल्पबुद्धि तो केवल दिङ्मात्र वर्णन कर सकता है।

लीलादि चेष्टा, विनयादि गुण, संस्कृत-प्राकृत आदि उक्तियाँ, निर्विकारात्मक मन, तथा सत्त्व का प्रथम विकार भाव इन नायक की विशेषताओं के उल्लेख के द्वारा कारिकाकार ने हाव आदि दूसरी विशेषताओं का सङ्केत किया है, जो उपलक्षण से इस प्रसङ्ग में गृहीत होंगी। यहाँ धनञ्जय ने नायक की इन विशेषताओं का संक्षिप्त (दिङ्मात्र) वर्णन ही किया है।

द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः



अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः शेषं प्रतीतम् ।

तत्र—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्यप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता

प्रथम प्रकाश में नाटकीय कथावस्तु का विवेचन किया। तदनन्तर द्वितीय प्रकाश में दूसरे नाटकीय तत्व 'नेता' (नायक) का सपरिग्रह वर्णन किया। अब नाटक का तीसरा अङ्ग प्रसङ्गोपात्त है। किन्तु रस के विवेचन में दशरूपककार धनञ्जय को कई बातें कहनी है। अतः विस्तारी विषय होने के कारण उसका उल्लङ्घन कर वस्तु, नेता तथा रस के भेद के आधार पर नाटकादि रूपकों का वर्णन तथा उनमें इनके विभाग का उपयोग किस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

(यहाँ 'सूचीकटाहन्याय' से रस के विस्तारी विषय को छोड़ कर पहले संक्षिप्त व अल्प विषय का विवेचन आरम्भ किया गया है।)

यहाँ सर्वप्रथम हम नाटक (रूपकभेद) का विवेचन कर रहे हैं। इसके तीन कारण हैं:—पहले तो नाटक ही अन्य रूपकभेदों की प्रकृति अथवा मूल है, उसीमें वस्तु, नेता या रस के परिवर्तन करने से प्रकरणादि रूपकों की सृष्टि हो जाती है। दूसरे, नाटक में रस का परिपाक पूर्ण रूप से तथा अनेक रूप से पाया जाता है—उसमें शृङ्गार या वीर कोई भी रस अङ्गी रस हो सकता है, तथा अन्य सभी रस अङ्ग रूप में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। तीसरे, वस्तु व नेता के जो लक्षण हम कह चुके हैं, तथा रस के जिन लक्षणों का वर्णन हम आगे करने जा रहे हैं, वे सभी लक्षण नाटक में पाये जाते हैं।

नाटक के लक्षण का उद्देश हो चुका है, उनसे युक्त नाटक ही उन प्रकरणादि रूपकों का मूल कारण है, जिनका अभी वर्णन नहीं किया गया है। कारिका का शेष अंश स्पष्ट ही है।

जब सूत्रधार पूर्वरङ्ग का विधान करने के बाद रङ्गमञ्च से चला जाता है, तो उसी की तरह (की वेशभूषा वाला) दूसरा नट मञ्च पर प्रवेश कर काव्य की प्रस्थापना करे।

पूर्वरङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्'—जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले। इस प्रकार पूर्वरङ्ग का तात्पर्य नाट्यशाला से है। नाट्यशाला में नाटकादि रूपक के आरम्भ में जो औपचारिक क्रियाएँ (प्रयोग, व्युत्थापनादि)-मङ्गलाचरण, देवतास्तवनादि-की जाती हैं, उन्हें पूर्वरङ्गता (पूर्वरङ्ग का काम) कहेंगे। इस मङ्गलाचरणादि के कर लेने पर जब सूत्रधार लौट जाता है, तो उसी की तरह के वैष्णववेश में आकर कोई दूसरा नट नाटकादि

तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः ।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु वीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्—वस्तु वीजं मुखं पात्रं वा ।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥'

वीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥'

मुखं यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥'

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥'

अनुकूल होने पर दैव अपने अभीष्ट अर्थ को किसी दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से भी लाकर एकदम मिला देता है।

(यहाँ दैव की अनुकूलता के कारण समुद्र में खोई रत्नावली भी यौगन्धरायण को मिल जाती है, इस बीज की ओर सकेत किया गया है। इस प्रकार यौगन्धरायण के अभीष्ट रत्नावली उदयन-समागम रूप फल के बीज की सूचना दी गई है।)

(३) मुखसूचना—दशरूपक के रचयिता या वृत्तिकार ने यहाँ मुख शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की सूचना दी जाती है (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। यहाँ दिये गये उदाहरण से भी विश्वनाथ महापात्र का मत पुष्ट होता है। मुखसूचना में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्नोक्त पद्य में स्थापक भारती वृत्ति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन श्लिष्ट शब्दों में हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनकी नाटकीय वस्तु की भी सूचना होती है।

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलों को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया के फूल फूलते हैं), सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए; अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले, उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

(४) पात्रसूचना—इसमें स्थापक किसी पात्र की (नेता या अन्य किसी पात्र की) सूचना देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का संकेत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नट कह रहा है।):—

हे नटी, तेरे गीत की सुन्दर राग से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज वेग वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मञ्च पर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार स्थापक नट की यह स्थापना—पात्रस्थापना (पात्रसूचना) कहलायगी।)

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥
वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ॥ ७ ॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

तत्र कथोद्घातः—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥ ९ ॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः[1] ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—द्वीपादन्यस्मादपि—' इति ।
वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधारः—

इस नाटिका का कवि श्रीहर्ष है, जो कविता में बड़ा निपुण है। सामाजिकों की यह सभा भी गुणों का ग्रहण करने वाली है। नाटिका की कथावस्तु वत्सराज उदयन के चरित्र पर आधृत है, जो संसार में अतीव मनोहर (समझा जाता) है। साथ ही हम लोग भी नाट्यकला में बड़े दक्ष हैं। कहाँ तक कहें, एक-एक साधन से भी ईप्सित फल की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर यहाँ तो मेरे सौभाग्य की वृद्धि से सारे ही गुणों का समूह एकत्रित हो गया है, इसलिए नाटक के सफल होने में कोई सन्देह ही नहीं।

प्रसङ्गोपात्त वीथी तथा प्रहसन का वर्णन हम आगे करेंगे। वैसे वीथी तथा आमुख दोनों भारती भेदों के अङ्ग एक ही हैं, इसलिए उन भेदों का वर्णन हम यहीं कर रहे हैं। आमुख उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (वस्तु का सङ्केत करते हुए) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुख को प्रस्तावना के नाम से भी पुकारते हैं। इसके कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय ये तीन अङ्ग पाये जाते हैं। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं—(जिनका वर्णन हम इनके बाद करेंगे)।

सूत्रधार के समान घटना वाले वाक्य को या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई नाटकीय पात्र मञ्च पर (प्रथम अङ्क में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को कथोद्घात कहते हैं। उपर्युक्त भेद के आधार यह दो तरह हो जाता है—वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक।

जैसे वाक्य का प्रयोग रत्नावली नाटिका में पाया जाता है, जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य-'द्वीपादन्यस्मादपि'-इत्यादि का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रविष्ट होता है।

वाक्यार्थ का प्रयोग वेणीसंहार की प्रस्तावना (आमुख) में मिलता है। भीमसेन सूत्रधार के वाक्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है। जैसे निम्न स्थल में—

---

१ 'वाक्यं वाक्यार्थमथवा प्रस्तुतं यत्र सूत्रिणः' इति पाठान्तरम् ।

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

ततोऽर्थेनाह—'भीमः—
लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥ १०

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं

अथ प्रयोगातिशयः—

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' इति ।

अथ वीथ्यङ्गानि—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्धात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्तौ तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा–विदूषकः—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसि सो किं पुरीसो आदु इत्थिअ त्ति । ('भो वयस्य ! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे !

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

'यह वह आ रहा है' इस प्रकार के वचन को प्रयोग कर जहाँ सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश करता है, वह प्रयोगातिशय नामक आमुख है ।

जैसे शाकुन्तल में 'जैसे यह राजा दुष्यन्त' इस सूचना के कारण प्रयोगातिशय है ।

वीथी के जिन तेरह अङ्गों का सङ्केत ऊपर किया गया, वे ये हैं :—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव ।

जहाँ दो पात्रों की परस्पर बातचीत इस ढङ्ग की पाई जाय, कि वहाँ या तो गूढार्थ पदों तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाय, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की माला पाई जाय । कभी कभी एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ पदों को दूसरा पात्र नहीं समझ पाये, तथा वह उसका व्याख्यान करे, उसके पर्याय का प्रयोग करे, तो वह पहले ढङ्ग का उद्घात्य या उद्घात्यक होता है । कभी कभी पात्र अपनी उक्ति में किन्हीं बातों पर प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, यह प्रश्नोत्तर माला दूसरे ढङ्ग का उद्घात्यक है इस तरह उद्घात्यक दो तरह का होता है ।

पहले ढङ्ग के उद्घात्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से नीचे दिया जा रहा है, जहाँ राजा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है :—

विदूषक—हे वयस्य, वह 'काम' कौन है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो; वह पुरुष है या स्त्री ।

राजा—मित्र, प्रेम का वह सुन्दर मार्ग जो केवल सुख की ओर ही प्रवृत्त होता है, तथा मन में उत्पन्न होता है, काम कहलाता है ।

विदूषकः—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि ।') राजा—वयस्य इच्छाप्रभवः स इति ।

विदूषकः—किं जो ज इच्छादि सो तं कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति ।') राजा—अथ किम् ।

विदूषकः—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि ।' ('तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।')

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥'

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥ १४ ॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्येऽनु (ण) प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः । द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि तदवतीर्य गच्छामि ।

विदूषक—मैं यह भी नहीं जानता ।

राजा—मित्र, वह काम इच्छा से उत्पन्न होता है ।

विदूषक—तो क्या, जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी वह कामना करता है ।

राजा—और नहीं तो क्या ?

विदूषक—तो समझ गया, जैसे मैं सूपकारशाला (भोजनशाला) में भोजन की इच्छा करता हूँ ।

दूसरी तरह के उद्घात्यक का उदाहरण पाण्डवानन्द नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया जा रहा है जहाँ प्रश्नोत्तर की माला है :—

सबसे अधिक श्लाघ्य वस्तु क्या है ? गुणियों की क्षमा । परिभव या तिरस्कार किसे कहते हैं ? वह तिरस्कार जो अपने ही कुल के बान्धवों के द्वारा किया गया है । दुःख क्या है । दूसरे के शरण में रहना ही दुःख है । संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है, जिसकी शरण में दूसरा आता है । मौत किसे कहते हैं ? व्यसन को । शोक का त्याग कौन कर सकते हैं ? जो अपने शत्रुओं को जीत लेते हैं । ये सारी बातें किनने जान ली ? विराटनगर में अज्ञात रूप में छिपकर रहते हुए पाण्डवों ने '

जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाय, वह पहले ढंग का अवलगित होता है । अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो वह अवलगित का दूसरा प्रकार है । इस तरह अवलगित दो तरह का होता है ।

जैसे पहले ढंग के अवलगित का उदाहरण उत्तरचरित (भवभूति के उत्तररामचरित) से दिया जा सकता है, जहाँ वनविहार की दोहद इच्छा वाली गर्भवती सीता के दोहद को पूर्ण करने के

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

अथ प्रपञ्चः—

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः । यथा कर्पूरमञ्जर्याम्—भैरवानन्दः—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ।
('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च ।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥'

अथ त्रिगतम्—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।

कार्य से वन में छे जाकर जनापवाद के कारण वहाँ छोड़ दिया गया है। यहाँ एक कार्य के समावेश (सीतादोहदपूर्ति रूप) से दूसरा कार्य वनत्याग भी सिद्ध हो गया है।

दूसरा प्रकार हम छलितराम[1] नाटक में देख सकते हैं :—यहाँ राम इसलिए पैदल जाना चाहते हैं कि पिता से वियुक्त अयोध्या में विमान से प्रवेश करना ठीक नहीं। यहाँ इस प्रस्तुत वस्तु के होते हुए उन्हें आगे भरत के दर्शन (दूसरे कार्य) की सिद्धि हो जाती है।

'राम—लक्ष्मण, पूज्य पिताजी के द्वारा वियुक्त अयोध्या में मैं विमान पर बैठकर प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिये उतर कर पैदल ही चलता हूँ।

अरे, सामने सिंहासन के नीचे, पादुकाओं के सामने कोई जटाधारी, अक्षमाला तथा चामर वाला व्यक्ति दिखाई पड़ रहा है।

प्रपञ्च वह वीथ्यङ्ग है, जहाँ पात्र आपस में एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करें, जो हास्य उत्पन्न करने वाली हो।

कारिका के असद्भूत अर्थ का तात्पर्य परस्त्रीलोलुपता आदि निपुणता से है, इस ढङ्ग की परस्पर स्तुति जहाँ होगी, वह प्रपञ्च कहलाता है।

जैसे राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी सट्टक में कापालिक भैरवानन्द अपने विषय में हास्यमय अनुचित प्रशंसा करते हुए कहता है :—

बताइये तो सही, यह कौन धर्म किसे अच्छा न लगेगा, जहाँ विधवा दीक्षित स्त्रियाँ धर्मपत्नियाँ बन जाती हैं, खाने-पीने को मांस-मद्य मिलता है, भिक्षा का भोजन प्राप्त होता है, चमड़े के टुकड़े की शय्या होती है।

जहाँ शब्द की समानता के कारण अनेक अर्थों (वस्तुओं) की एक साथ योजना की जाय, वह त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग होता है। नट आदि तीन पात्रों के आलाप के कारण पूर्वरङ्ग में भी त्रिगत पाया जाता है।

---

१. छलितराम नाटक अनुपलब्ध है, तथा इसके रचयिता का भी पता नहीं।

नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥'

अथ छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम्[1] ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

त्रिगत का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया गया है। राजा, अप्सराओं के सङ्गीत को सुनकर शब्दसाम्य के आधार पर भ्रमरों के कलकल निनाद तथा कोकिल की काकली की योजना करता है, अतः यह त्रिगत है।

फूलों के रस से मस्त भौरों का यह कलकल है, यह कोकिल की गम्भीर काकली है। देवताओं के समूह के द्वारा चारों ओर से सेवित कैलास पर्वत पर किन्नरियाँ रमणीय व मधुर अक्षरों में गा रही हैं।

जहाँ कोई पात्र बाहर से प्रिय लगने वाले, किन्तु वस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा दूसरों का विलोभन करके उनके साथ छल करे, वह छल नामक वीथ्यङ्ग है।

जैसे वेणीसंहार में भीमसेन तथा अर्जुन दुर्योधन को ढूँढते हुए निम्न उक्ति का प्रयोग करते हैं, जो ऐसे अप्रिय वाक्यों से युक्त है, जो बाहर से प्रिय-से मालूम पड़ते हैं :—

द्यूतक्रीड़ा के समय छल करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का पूज्य अग्रज (गुरु), अङ्गराज कर्ण का मित्र, वह अभिमानी राजा दुर्योधन; जो द्रौपदी के बालों व उत्तरीय को खोलने में चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं; कहाँ है ? हे पुरुषो, हमें बता दो, हम उसे देखने को आये हैं।

जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पाई जाय, अर्थात् साकाङ्क्ष वाक्य को पूर्ण न कर उसको अधूरा ही कहा जाय तथा उसके भाव को गम्य रख दिया जाय; अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्ति-प्रयुक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाय, वहाँ वाक्केली नामक वीथ्यङ्ग होता है।

---

१. 'छलना' इत्यपि पाठः ।

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते—'वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि । ('भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास ण क्खु एसा चच्चरी । दुवदिखण्डअं क्खु एदम् । ('हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदिखण्डकं खल्वेतत् ।') विदूषक—भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति । ('भवति क्रियेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम् ।' ('नहि पठ्यते खल्वेतत् ।') इत्यादि ।

अथाधिबलम्

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

(इस तरह वाक्केली दो तरह की होती है ।)

पहले प्रकार की वाक्केली का उदाहरण उत्तरचरित के तृतीय अङ्क से दिया गया है, जहाँ सीता के साथ किये गये राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए वासन्ती (वनदेवता) राम से कह रही है :—

तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, मेरा दूसरा हृदय हो, मेरे नेत्रों को तृप्त करने वाली चन्द्रिका हो, मेरे अङ्गों को जीवन देने वाला अमृत हो, इस तरह के सैकड़ों प्रिय वाक्यों से उस भोली सीता को भुलावे में डालकर, हाय, तुमने उसी को………(बनवास दे दिया); अथवा शान्त हो, इससे आगे के विषय में कहना व्यर्थ है ।

दूसरे प्रकार की वाक्केली में दो तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति पाई जाती है, जैसे रत्नावली नाटिका के निम्न स्थल में :—

विदूषक—हे मदनिके, मुझे भी यह राग (चर्चरी) सिखा दो ना ।
मदनिका—मूर्ख यह चर्चरी नहीं है, यह द्विपदीखण्डक[1] है ।
विदूषक—अरी क्या इस खण्ड (शक्कर) से लड्डू बनाये जाते हैं ।
मदनिका—नहीं, इसे तो पढ़ा जाना है—गाया जाता है ।

जहाँ नाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धा से अपने आधिक्य की उक्ति कहें उसे अधिबल कहते हैं ।

जैसे वेणीसंहार के निम्न स्थल पर अर्जुन, भीम व दुर्योधन का परस्पर वार्तालाप इस ढङ्ग का पाया जाता है कि वे एक दूसरे की स्पर्धा करते हुए अपने आधिक्य की सूचना करते हैं ।

---

१. चर्चरी, द्विपदीखण्डक आदि गीतों की शैलियाँ हैं, जैसे ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी आदि हैं ।

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदो । ('देव उपस्थितः ।') रामः—अयि कः ?। प्रतीहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो ।' (देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।') इति ।

अथावस्यन्दितम्—

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

यथा छलितरामे—'सीता—जाद कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो । ('जात ! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तहिं स राजा विनयेन नमितव्यः ।') लवः—अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ? सीता—जाद सो क्खु तुह्माणं पिदा । ('जात स खलु युवयोः पिता ।') लवः—किमावयोः रघुपतिः पिता ?। सीता—(साशङ्कम्) जाद ण क्खु परं तुह्माणं, सअलाए जेव्व पुहवीए ।' ('जात न खलु परं युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः ।') इति ।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १९ ॥

यथा मुद्राराक्षसे—'चरः—हंहो बह्मण मा कुप्प किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति । ('हंहो ब्राह्मण मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति ।') शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि । चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो

राम—अरे कौन ।

प्रतीहारी—महाराज, आपका सेवक दुर्मुख ।

जहाँ भावावेश (रस) के कारण किसी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाय, और बाद में उस वाक्य की व्याख्या दूसरे ही ढङ्ग से कर वास्तविकता को छिपा दिया जाय, उसे अवस्यन्दित कहते हैं ।

जैसे छलितराम नाटक के निम्न स्थल में भावावेश में लव के सम्मुख सीता के मुँह से यह बात निकल जाती है कि 'राम तुम्हारे पिता हैं'; पर वह बाद में इसकी व्याख्या दूसरे ही ढङ्ग से कर देती है, कि वे तुम्हारे ही नहीं सारी पृथ्वी के पिता हैं ।

सीता—तात, कल तुम्हें अयोध्या जाना है, वहाँ राजा को नम्रता से प्रणाम करना ।

लव—माता, क्या हमें राजा के नौकर बनना है ?

सीता—तात, वे तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?

सीता—(आशङ्का के साथ) तात तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथ्वी के ।

हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को ही नालिका कहते हैं ।

जैसे विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में हास्य से युक्त तथा गूढार्थ पहेली 'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नहीं लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया जाता है जहाँ चन्द्र का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) से है ।

चर—अरे ब्राह्मण, गुस्सा न करो, कुछ तो तुम्हारे आचार्य चाणक्य जानते हैं, कुछ हम जैसे लोग ही जानते हैं ।

अणभिप्पेदो त्ति। ('यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति।' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्तं भवति।

अथाऽसत्प्रलापः—

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तत्र—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः॥

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।

शिष्य—क्या तुम हमारे गुरु की सर्वज्ञता को चुनौती देने की इच्छा करते हो।

चर—अगर तुम्हारे आचार्य सारी बातें जानते हैं, तो बतावें कि किस व्यक्ति को चन्द्र (चन्द्रमा; चन्द्रगुप्त) अच्छा नहीं लगता।

शिष्य—इसे जानने से क्या फायदा।

× × × × ×

चाणक्य—चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को मैं जानता हूँ।

जहाँ उटपटांग असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाय, वह असत्प्रलाप नामक वीथ्यङ्ग होता है।

असम्बद्ध प्रलपित के बारे में यह शङ्का की जा सकती है, कि नाटक में इसका पाया जाना दोष है, क्योंकि असम्बद्ध कथा में असङ्गति नामक वाक्यदोष आ जाएगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि उनींदे, मदमस्त, पागल तथा बालक पात्रों की बातचीत में असम्बद्ध प्रलपित पाया जाना स्वाभाविक ही है।

जैसे निम्न स्थल में बालक कार्तिकेय का असम्बद्ध प्रलाप स्वाभाविक ही है।

बालक कार्तिकेय बाललीला के कारण पिता शिव के गले में लटकते हुए वासुकि के प्रकाशमय मुखों को ओठों पर से फाड़ देते हैं। उसके बाद वे उसके जहरीले तथा चित्रविचित्र दाँतों के अंकुरों को अङ्गुली से छू-छू कर गिनते हैं:—एक, तीन, नौं, आठ, सात, छः। इस तरह कार्तिकेय की गणना में संख्या का कोई क्रम नहीं पाया जाता। क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की संख्या व्यतिक्रमयुक्त बचपन से तुतलाई हुई वाणी आप लोगों के कल्याण को पुष्ट तथा अभिवृद्ध करे।

और जैसे प्रिया-विरह के कारण उन्मत्त पुरूरवा की इस उक्ति में—

'हे हंस, मुझे मेरी प्रिया को लौटा दे, उसकी चाल तूने छीन ली है। मेरी प्रिया

---

१. 'यथोत्तरम्' इत्यपि पाठः।

विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥'

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरय' स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥'

अथ व्याहार.—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥ २० ॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषकः—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' ('मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदास'—(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षित' । विदूषकः—पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते) ।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः ।

अथ मृदवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।

के एकदेश (गति) को लेने वाले तेरे द्वारा मुझे जो कुछ लौटाने योग्य है, उसे लौटा देना ठीक होगा ।'

अथवा निम्न उन्मादोक्ति में—

मैं पर्वतों को खा चुका हूँ, आग से नहा चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ । ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र हैं, इसलिए मैं नाच रहा हूँ ।

जहाँ हँसी के लोभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे वाक्य का प्रयोग हो, जिसका अर्थ कुछ और ही हो, वह व्याहार कहलाता है ।

जैसे मालविकाग्निमित्र में मालविका के द्वारा लास्य के प्रदर्शन किये जाने के बाद वह जाना चाहती है । इस पर विदूषक कहता है—

'तुम उपदेश से शुद्ध होकर (हमसे यह सीख कर) न चली जाना ।

गणदास—(विदूषक से) आर्य कोई गलती हुई हो तो कहें ।

विदूषक—पहले पहल प्रातःकाल में ब्राह्मण की पूजा की जाती है । उसने उस पूजा का उल्लङ्घन किया है ।

(मालविका मुसकुराती है ।)

यहाँ नायिका को विश्वास में डाल कर नायक को उसका दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त वचन का प्रयोग विदूषक ने किया है, जो हास्यकारी है । अतः यहाँ व्याहार नामक वीथ्यङ्ग है ।

जहाँ कोई पात्र गुणों को दोष बता कर तथा दोषों को गुण बता कर कहे, वह मृदव वीथ्यङ्ग है ।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥'

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

उभयं वा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥'

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

जैसे शाकुन्तल के इस पद्य में राजा मृगया के दोषों को गुणों के रूप में रखता है :—

लोग इस मृगया को झूठ में ही व्यसन (बुरी आदत) बताया करते हैं। भला इस जैसा आनन्द कहाँ मिल सकता है ? देखो, मृगया से शरीर की सारी चर्बी कम हो जाती है, पेट पतला हो जाता है, तथा शरीर उठने बैठने के योग्य हो जाता है। दूसरी ओर मृगया खेलने से जङ्गली पशुओं के चित्त व आकृति में भय तथा क्रोध के समय क्या-क्या विकार होते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे, मृगया खेलने में चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करना पड़ता है अतः उसके बाण चञ्चल लक्ष्य को विद्ध करने में सिद्ध हो जाते हैं, और यह धनुर्धारियों की बहुत बड़ी विशेषता है।

अथवा जैसे निम्न पद्य में राज्य के गुणों को दोष के रूप में वर्णित किया गया है—

शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाला यह राजा बड़े कष्ट के साथ जी रहा है—इसका मन कभी शान्त व स्थिर नहीं रहता, अनेक व्यथाएँ इसे क्लेश दिया करती हैं, इसे न तो नींद ही आती है, न किसी के प्रति यह विश्वास ही करता है।

कभी-कभी दोनों—गुणों का दोषीभाव तथा दोषों का गुणीभाव एक-एक साथ भी पाये जा सकते हैं :—

सच्चरित्रता के उदय की इच्छा वाले तथा इसीलिए सदा दुखी रहने वाले सज्जन लोग, जो हमेशा लोगों के द्वारा की गई निन्दा से डरा करते हैं, बड़े दुःख व कष्ट के साथ जीवनयापन करते हैं। वस्तुतः सौभाग्यशाली तो वह प्राकृत (अज्ञानी) पुरुष है, जो मौके की बात को भी नहीं सोच पाता, जो अच्छे या बुरे काम से कभी व्याकुल नहीं होता और भले-बुरे के ज्ञान से जिसका हृदय शून्य रहता है।

सूत्रधार इस प्रकार प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख आदि किसी के द्वारा (भारती वृत्ति का आश्रय लेते हुए) काव्यार्थ अथवा नाटकीय पात्र की सूचना दे। उसका

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारित्नीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायण-महाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥

आक्षेप तथा परिचय दे देने पर प्रस्तावना के अन्त में वह रङ्गमञ्च से निष्क्रान्त हो जाय तथा तदनन्तर कथावस्तु को प्रपञ्चित करे ।

यहाँ नाटक (रूपकविशेष) ही का प्रकरण चल रहा है । अतः नाटक के ही नायक तथा तत्सम्बन्धी वस्तु का ही सङ्केत करते हुए कहते हैं :—नाटक का नायक या तो प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उत्कृष्ट गुणों से युक्त होता है, धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापशाली होता है । वह यश तथा कीर्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों (वैदिक परम्परा) का रक्षक होता है । अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य-देवता-हो सकता है, जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है । उस नायक के विषय में इतिहास पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक वस्तु रखना चाहिए । (यदि कवि उसके सम्बन्ध में रसानुकूल कोई कल्पित वस्तु का सन्निवेश करना चाहता है, तो वह प्रासङ्गिक रूप में ही की जानी चाहिए ।) जिस इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) वृत्त में इस तरह का, इन गुणों व विशेषताओं से सम्पन्न, नायक हो, वही वृत्त नाटक के उपयुक्त होता है ।

जिस कथा (इतिवृत्त) में सत्यवादी, नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध उच्च गुणों से युक्त तथा अनुचित कार्य न करने वाला रामायण महाभारतादि—बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध धीरोदात्त कोटि का राजा या दिव्य नायक पाया जाता है, उसी प्रसिद्ध कथा को यहाँ नाटक की आधिकारिक कथावस्तु बनाना ठीक होगा ।

(जैसे शाकुन्तल की कथा का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त राजर्षि है, कथा महाभारत में प्रसिद्ध है । उत्तररामचरित की कथा भी रामायणादि में प्रख्यात है, तथा इसके नायक धीरोदात्त राजर्षि है, वैसे अवतार के कारण उन्हें दिव्यशक्ति सम्पन्न होने से दिव्य भी माना जा सकता है । मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त राजा अवश्य है, यह दूसरी बात है कि उसमें—जिस रूप में वह वहाँ चित्रित हुआ है—उच्च कुलीनता नहीं मिलती है । फिर भी नन्द की मुरा दासी के पुत्र होने के कारण—प्रख्यातवंशत्व उसमें घटित हो ही जाता है । कथा भी बृहत्कथादि में प्रख्यात है ही ।)

नायक की प्रकृति (धीरोदात्तता) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर या शृङ्गार[1])

---

1. दशरूपककार धनञ्जय शान्त को रस नहीं मानते, अतः यहाँ इसने नहीं लिखा है । हम नाटक में शान्त के अङ्गी रूप को भी स्वीकार करते हैं ।

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः। वीरचरिते तु रावणसौहृदेन रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत्।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत्। पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात्।

के प्रतिकूल जो कोई बात उस इतिवृत्त में पाई जाती हो, कवि को चाहिए कि उसे इस तरह से परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे, या रस का वह प्रतिकूल तत्त्व हट जाय। इस तरह की जो कोई अनुचित बात हो या तो उसे छोड़ ही दे या परिवर्तित करके नये रूप में रख दे।

जैसे मायुराज ने अपने नाटक उदात्तराघव में 'राम के द्वारा छल से बालि का वध सर्वथा छोड़ दिया है, उसने इस घटना का हवाला ही नहीं दिया है। भवभूति के वीरचरित में रावण की मित्रता के कारण वाली राम के वध के लिए आता है, और राम उसे मार देते हैं, इस तरह वह घटना बदल दी गई है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि राम जैसे दिव्यावतार तथा धीरोदात्त राजर्षि के उज्ज्वल तथा सात्त्विक चरित्र में बालि को छल से मारना कलङ्क है।

(हम इसीका दूसरा उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल से ले सकते हैं। पद्मपुराण में जहाँ से यह कथा ली गई है दुर्वासा वाली घटना–शाप–का उल्लेख नहीं। इस प्रकार शकुन्तला को बिना किसी कारण भूल जाना दुष्यन्त की कामुकता व लम्पटता को सिद्ध कर उसके धीरोदात्तत्व को दूषित कर देता है। कविवर कालिदास ने धीरोदात्त दुष्यन्त के चरित्र को अकलुषित रखने के लिए दुर्वासा शाप की कल्पना की है :—स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्, कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥)

नाटक के रचयिता को चाहिए कि उस प्रख्यात कथा का आदि व अन्त कहाँ रखेगा इसका निश्चय कर ले। नाटक किस विशेष घटना से आरम्भ करेगा, और कहाँ जाकर समाप्त करेगा, इसे निश्चित कर लेने पर उसे सारी कथा को पाँच भागों में बाँट लेना चाहिए। ये पाँच खण्ड ही पाँच सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, व निर्वहण हैं। इन सन्धियों को विभागों, अङ्गों में भी विभाजित कर देना चाहिए।

जब रस व नायक के अनौचित्य व विरोध के परिहार से नाटकीय इतिवृत्त परिशुद्ध हो जाय तथा कवि इस बात का विभाग कर ले कि कथावस्तु में किन-किन बातों को उसे रङ्गमञ्च पर दिखाना है, किन-किन बातों को नहीं (अर्थात् किन-किन की विष्कम्भकादि के द्वारा सूचना ही देना है)। इसके अनुसार वह इतिवृत्त में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे, इस प्रकार की उपक्लृप्त वस्तु को आरम्भादि पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच टुकड़ों में—मुखादि पाँच सन्धियों में—बाँट दे। फिर इसके बाद मुख व गर्भसन्धि को बारह, प्रतिमुख व विमर्श को तेरह तथा निर्वहण सन्धि को चौदह अङ्गों में विभक्त कर दे।

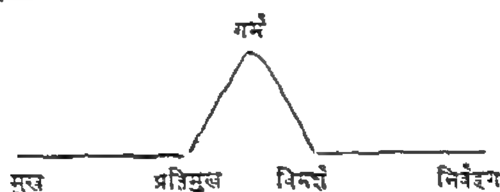
चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥ २६ ॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धि प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ।

तदेवं विभक्ते—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

[नाटकीय कथावस्तु के आरम्भ से लेकर अन्त के विभागों को हम एक रेखाचित्र के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं ।



नाटकीय कथावस्तु एक सरल या सीधी रेखा की तरह एक ही दिशा में नहीं चलती। प्रतिमुख तक वह सीधी चलती है और फिर वह फलप्राप्ति की इच्छा में यत्नशील होती है। गर्भसन्धि इसकी चरम सीमा है जिसके अन्तर्गत 'संघर्ष' की स्थिति पाई जाती है। तदनन्तर वह नीचे आती है। विमर्श के बाद फिर वह सीधी होकर नायक के कार्य तथा फलप्राप्ति की ओर उन्मुख होती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में कुछ लोग इसी तरह की पाँच स्थितियाँ नाटक की कथावस्तु में मानते हैं। यह दूसरी बात है कि वहाँ अन्त सदा सुखान्त न होता हो। कुछ लोग तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं—आरम्भ (Begining), संघर्ष तथा उसकी चरम स्थिति (Climax) तथा अन्त (Denouement).]

इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त के ६४ अङ्ग होते हैं। दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। इसके पताका नामक भेद में पाँचों सन्धियाँ हों यह आवश्यक नहीं। वह प्रधान वृत्त की अपेक्षा, एक, दो, तीन या चार सन्धियों से न्यून हो सकता है। इसमें यथावश्यक रूप से अङ्गों का समावेश हो सकता है। प्रासङ्गिक कथा के प्रकरी नामक भेद में सन्धिसन्निवेश नहीं होना चाहिए।

दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त एकादि सन्धियों से न्यून हो अर्थात् प्रधान इतिवृत्त से एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों से न्यून रूप में पताका इतिवृत्त का विन्यास करना चाहिए। इसके अङ्ग यथावश्यक रूप में रखे जा सकते हैं, इस तरह कि प्रधान इतिवृत्त से उनका विरोध न पड़े। प्रकरी नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त में सन्धि की परिपूर्णता की जरूरत नहीं अतः उसमें सन्धि का विधान नहीं होना चाहिए।

इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन कर लेने पर कवि नाटक के आरम्भ में कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अङ्क की व्यवस्था करे। यह योजना कार्य के आधार पर होगी।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

यदि आरम्भिक कथांश नीरस है किन्तु उनकी आवश्यकता नाटक की वस्तु को गतिविधि देने के लिए होती ही है, तो ऐसी दशा में कवि को चाहिए कि नीरस किन्तु आवश्यक वस्तु-विस्तार को छोड़कर जब वह कथावस्तु के शेषांश को रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहे तो वह उस नीरस क्रमांश की सूचना देने के लिए विष्कम्भक का सन्निवेश करे। यदि कथावस्तु में आरम्भ से ही रसमय वस्तु पाई जाती है, तो ऐसी दशा में विष्कम्भक का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में शुरू में ही अङ्क का सन्निवेश करना चाहिए तथा प्रयोगातिशय आदि आमुख भेदों के आधार पर आरम्भ में ही पात्रप्रवेश कर देना चाहिए।

[जैसे मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना के लिए विष्कम्भक की योजना पाई जाती है, जहाँ भगवती (तापसी) आकर भूत वस्तु की सूचना देती है, तब प्रकरण आरम्भ होता है। शाकुन्तल में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का सन्निवेश पाया जाता है, अतः नाटक अङ्क से शुरू किया गया है।]

विष्कम्भक व अङ्क का भेद बताते हुए कहते हैं कि अङ्क में नाटकादि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। या तो वह स्वयं मञ्च पर आता है या मञ्च पर घटित घटना उसके चरित्र से साक्षात् सम्बद्ध होती है। उसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति व्याप्त पाई जाती है तथा वह नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनों का आश्रय होता है।

पात्र के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने पर जहाँ साक्षात् रूप से नायक का व्यापार मञ्च पर दिखाया जाता है, जहाँ बिन्दु का उपक्षेप पाया जाता है, अनेक प्रकार के प्रयोजन का विधान रहता है तथा जिसमें रस स्थित रहता है, उसे अङ्क कहते हैं। चूँकि इसमें बिन्दु, नायक का व्यापार तथा रसादि ठीक उसी तरह रहते हैं जैसे गोद में—इसीलिए इसे 'अङ्क' (गोद, उत्सङ्ग) (उपमान के आधार पर) कहा जाता है।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीत-मुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्॥ ३२॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

कथासंध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा॥ ३३॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तन्न—यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव।

सकता है, इस तरह उन विभिन्न अनुभावों, विभावों तथा सञ्चारियों का मिश्रण व त्याग वह आवश्यकतानुसार कर सकता है।

यहाँ मूलकारिका के 'अङ्गिन.' इस पद से अङ्गी रस के साथ ही साथ उसके स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है, इसलिए कारिका 'स्थायिना' पद से रसान्तरस्थायी—अङ्गिस्थायी से भिन्न स्थायीभाव—का ग्रहण करना चाहिए। गृहीतमुक्त का अर्थ परस्पर अमिश्रित होने से है।

रस का इतना अधिक परिपोष भी न किया जाय कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाय; और न वस्तु, अलङ्कार या नाटकीय लक्षणों[1] से रस को ही तिरोहित कर दिया जाय।

[नाटक के सम्बन्ध में रस व वस्तु दोनों महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं, अतः दोनों में समुचित सन्तुलन करने से ही नाटक की परिपूर्णता होगी।]

नाटक में अङ्गी रस एक ही उपनिबद्ध होना चाहिए; वह या तो शृंगार हो सकता है या वीर[2]। अङ्ग रूप में और सभी रसों का निबन्धन हो सकता है। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया जाना चाहिए।

यहाँ दूसरे रसों के अङ्गत्व के विषय में इस कारिका में जो उल्लेख किया गया है, उसमें पूर्वपक्षी को पुनरुक्ति दोष दिखाई पड़ता है। इसी शङ्का को उठाते हुए वह कहता है।

ऊपर की ३१वीं कारिका में स्थायी (भाव) का रसान्तरगतत्व निर्दिष्ट हो चुका है। स्थायी का ही परिपाक रस है, अतः उससे ही अङ्गी रस में दूसरे रसों की अङ्गता स्पष्ट हो ही जाती है। (फिर-फिर से रसान्तरों का अङ्गी रस में अङ्गत्व निर्दिष्ट करना, पुनरुक्ति नहीं है, तो और क्या ?)

इसी का उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी बताता है कि वस्तुतः यह बात नहीं है। ३१वीं कारिका के स्थायी के उल्लेख में रस का समावेश नहीं होता। क्योंकि दोनों की अवस्था भिन्न हैं। जहाँ किसी दूसरे रस का स्थायी इस ढङ्ग से उपनिबद्ध किया जाय, कि वह अपने अनुकूल अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी से युक्त हो, तथा उसका निबन्धन अच्छी तरह

---

१. नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटकों के सम्बन्ध में ३२ लक्षण माने हैं, इन्हें नाट्यालङ्कार भी कहते हैं। अलङ्कारों से तात्पर्य शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार से है।

२. ध्यान रखिये धनञ्जय शान्त रस को नहीं मानते, न उसका सन्निवेश अङ्गी रूप में नाटक में ही मानते हैं।

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम्=अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्॥ ४१॥
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्॥ ४२॥

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका। यदुक्तम्—

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि॥'

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्, तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७ ॥
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम्।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

नाटक का नायक आसन्न-समीपस्थ-हो तथा अधिक पात्रों की भीड़ का प्रवेश न कराया जाय, केवल तीन या चार ही पात्र वहाँ प्रवेश करें। अङ्क के अन्त में इन सारे पात्रों का निर्गम कर दिया जाय—ये सारे ही पात्र अङ्क के समाप्त होते समय मञ्च से निष्क्रान्त हो जावें।

इस नाटक में भावी भावों के सूचकों—पताकास्थानकों का भी सन्निवेश होना चाहिए। इसमें बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति का प्रयोग हो, तथा अन्त में बीज का परामर्श पाया जाय। इस प्रकार अङ्कों की योजना की जाय, जिनमें पात्रों का प्रवेश व निर्गम समुचित रूप से किया जाय। नाटक के अङ्कों की संख्या पाँच अङ्कों या दस अङ्कों की होती है। इसमें पाँच अङ्कों का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अङ्कों का श्रेष्ठ।

[नाटकों को देखने पर पाँच से लेकर दस तक अङ्कों वाले नाटक पाये जाते हैं। अधिकतर संस्कृत-नाटक सप्ताङ्क हैं:—यथा शाकुन्तल, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस। वेणीसंहार में छः अङ्क हैं, तथा विक्रमोर्वशीय में पाँच। वैसे हनुमन्नाटक में चौदह तक अङ्क पाये जाते हैं। पर मोटे तौर पर नाटक में अङ्क संख्या ५ से १० तक पायी जाती है।]

यहाँ तक नाटक के लक्षण कहे गये।

नाटक के बाद प्रकरण का लक्षण तथा विशेषताएँ बताते हैं:—

प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित तथा लोकसंश्रय होता है। लोकसंश्रय का तात्पर्य यह है कि यह राजा आदि की कथा न होकर मध्यम वर्ग के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है। इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या बनिये में से कोई एक हो सकता है। एक नायक धीरप्रशान्त कोटि का होता है, तथा विघ्नों से युक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) में तत्पर होता है। इसके अन्दर सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का समावेश ठीक नाटक की ही तरह होता है।

इसका इतिवृत्त कवि बुद्धि विरचित तथा लोकसंश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है। मन्त्री आदि में से कोई एक इसका नायक होता है, वह धीरप्रशान्त होता है, तथा उसके कार्य की सफलता विघ्नों से अन्तर्हित होती है। मन्त्री अमात्य ही होता है, सार्थवाह बनिया है। और सब स्पष्ट है।

[मृच्छकटिक प्रकरण की कथा कल्पित है तथा लोकसंश्रय भी। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है, धीरप्रशान्त है। इसका रस शृङ्गार है। मालतीमाधव की कथा भी कल्पित है। उसका नायक

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम् = अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धि कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥ ४१ ॥
कुलजाऽभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका। यदुक्तम्—

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥'

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति।

अथ नाटिका—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ॥'

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् । समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्, वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः, अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

तमेव सङ्करं दर्शयति—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति, एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात् यदि भेदस्तत्र (तदा) ।

कुछ लोग सङ्कीर्ण उपरूपकों में नाटिका, तथा प्रकरणिका दो भेदों को मानते हुए प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं । इसके प्रमाण स्वरूप वे भरत के इस श्लोक को देते हैं :— 'अनयो''''''काव्ये' । इस श्लोक का अर्थ वे यों करते हैं कि 'नाटक व प्रकरण इन दोनों के योग से काव्य के दो भेद होते हैं—एक भेद प्रख्यात है–नाटिका, तथा दूसरा अप्रसिद्ध प्रकरणिका है । दोनों नाटी इस संज्ञा से अभिहित होते हैं ।'

वृत्तिकार धनिक को यह मत स्वीकार नहीं । वे तो प्रकरणिका को अलग भेद मानने से सहमत नहीं । उनका कहना है कि भरत के उद्धृत श्लोक में प्रकरणिका का नाम (उद्देश) व लक्षण दोनों नहीं पाये जाते । इसका कारण यह है कि प्रकरण के समान ही लक्षण प्रकरणिका में पाये जाते हैं तथा उनमें कोई भिन्नता नहीं । साथ ही प्रकरणिका के वस्तु, रस तथा नायक प्रकरण से अभिन्न होते हैं । नाटिका का लक्षण मुनि भरत ने इसलिए किया है कि वे उस पर कुछ जोर देना चाहते हैं । वैसे तो नाटिका का लक्षण शुद्ध रूपकों (नाटक व प्रकरण) के लक्षणों के सङ्कर-मिश्रण से ही सिद्ध हो जाता है, पर फिर भी उसका अलग से लक्षणकरण इस बात का नियमन करता है कि सङ्कीर्ण उपरूपक त्रोटकादि में विशेषतः कवि को नाटिका की ही योजना करनी चाहिए ।

इसी सङ्कर को बताते हैं कि—नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है अर्थात् वह कविकल्पित होती है । उसका नायक नाटक से गृहीत होता है, वह राजा होता है । वह प्रख्यातवंश तथा धीरललित होता है । इसका अङ्गीरस शृङ्गार होता है ।

कल्पित इतिवृत्त का होना प्रकरण की विशेषता है, प्रख्यात नृप का नायक होना नाटक की विशेषता । इस तरह नाटक, प्रकरण, नाटिका के अतिरिक्त वस्तु आदि के भेद के अभाव से

नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥ ४८ ॥

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाणः—

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

जाता है । नायक यहाँ पर सदा महारानी के भय से शङ्कित रहता है—(फलतः उसकी अनुरागचेष्टा छिप-छिप कर चला करती है ।)

इस मुग्धा नायिका को अन्तःपुर में सङ्गीत आदि के समय नायक समीप पाकर उसके प्रति प्रेम करने लगता है । यह प्रेम देवी के प्रतिबन्ध के कारण छिपा रहता है, पर उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है । नाटिका में नायक के इस प्रकार के अनुराग का निबन्धन होना चाहिए ।

इस नाटिका में कैशिकी के चार अङ्ग—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ प्रयुक्त होते हैं, तथा तदुपयुक्त चार अङ्कों की योजना की जाती है ।

नाटिका वह है जहाँ हर अङ्क में उपर्युक्त लक्षणवाले कैशिकी वृत्ति के चार अङ्गों नर्मादि का सन्निवेश किया जाय ।

[नाटिका के उदाहरण स्वरूप—रत्नावली, प्रियदर्शिका, बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी, आदि काव्य दिये जा सकते हैं । इसी का एक विशेष प्रकार का भेद सट्टक माना जा सकता है, जहाँ केवल प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है । सट्टक का उदाहरण राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी है ।]

अब प्रसङ्गोपात्त भाण नामक रूपक का लक्षण उपनिबद्ध करते हैं :—

भाण वह रूपक है जहाँ कोई अत्यधिक चतुर तथा बुद्धिमान् (पण्डित) विट (एककलापारङ्गत व्यक्ति) अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्तचरित का वर्णन करे । यहाँ पर सम्बोधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है । यहाँ पर कोई दूसरा पात्र नहीं होता । वही विट आकाश-भाषित के द्वारा किसी से भाषण या कथनोपकथन करता दिखाया जाता है । भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य के वर्णन कर शृङ्गार तथा वीर रस की सूचना दी जाती है । इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है तथा एक ही अङ्क की योजना की जाती है । इसकी कथावस्तु कविकल्पित होती है । इसमें पाँचों सन्धियाँ नहीं बनाई जा सकतीं, अतः मुख तथा निर्वहण ये दो ही सन्धियाँ पाई जाती हैं । इन दो सन्धियों के अङ्गों की योजना इसमें की जाती है, तथा दस लास्याङ्गों का सन्निवेश भी होता है ।

जहाँ धूर्त, चोर, जुआरी आदि लोगों के चरित्र का स्वकृत अथवा परकृत वर्णन विट के

धूर्ताश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः। एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति। अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ।

लास्याङ्गानि—

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।

द्वारा किया जाय, वह भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहलाता है। एक ही विट आकाशभाषित के द्वारा आशङ्का तथा उत्तर देकर उक्तिप्रत्युक्ति का प्रयोग करता है। यहाँ रस की स्पष्टता नहीं पाई जाती अतः सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शृङ्गार व वीर रस की सूचना दी जाती है।

[इस प्रकार भाण की ये विशेषताएँ हैं :—

१. इसकी वस्तु कल्पित व धूर्तचरितपरक होती है, जिसमें मुख व निर्वहण सन्धि होती है।

२. इसका नायक विट होता है, वही एक पात्र इस रूपक में पाया जाता है। वह कथनोपकथन का प्रयोग आकाशभाषित के द्वारा करता है।

३. इसमें भारती वृत्ति पाई जाती है।

४. वीर तथा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है।[1]

५. इसमें केवल एक अङ्क होता है।]

भाण के सम्बन्ध में दस लास्याङ्गों का वर्णन किया गया है—ये दस लास्याङ्ग-संगीत के भेद हैं। इनका वर्णन करना आवश्यक समझ कारिकाकार बताते हैं कि लास्य में इन दस अङ्गों की कल्पना की जाती है :—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोत्तमक तथा उक्तप्रत्युक्त।

[(१) **गेयपदः**—जहाँ पुरःस्थित नायक के सामने वीणा के द्वारा शुष्कगान गाया जाय, वह गेय पद है।

---

१. भाण कई अवस्था में—पाश्चात्य-पद्धति के एकाभिनय (मोनो-एक्टिंग) से मिलता है। उसमें भी इसी की तरह एक ही पात्र अभिनय करता है। संस्कृतसाहित्य के रूपक-साहित्य में भाण का विशेष स्थान रहा है। आठवीं शती से लेकर १७ वीं १८ वीं शती तक सैकड़ों भाण लिखे गये। वामनभट्ट, बाण, युवराज राजवर्मा आदि अनेकों ने भाणों को एक सुन्दर साहित्यिक रूप दिया। भाण के द्वारा कवि सामाजिक कुरीतियों पर भी बड़ा गहरा व्यङ्ग कसता है। सामाजिक कुरीतियों का पर्दाफाश करने के लिए कवि के पास भाण व प्रहसन ये दो बड़े अस्त्र थे। किन्तु दोनों की प्रणाली में गहरा भेद है। भाण की व्यंग्यप्रणाली बड़ी गम्भीर व उदात्त होती है, प्रहसन की छिछली। यही कारण है कि भाण का रस हास्य नहीं होता है, प्रहसन का हास्य होता है। संस्कृत के भाणों में अधिकतर वेश्याओं के वर्णन, उनके बाजारों के वर्णन, उनसे सम्बद्ध दूसरे धूर्त व जुआरियों के वर्णन मिलेंगे। भाणों में सर्वत्र शृङ्गार की प्रधानता मिलती है, वीर की बहुत कम। इनके प्राकृतिक वर्णन भी शृङ्गार से प्रभावित होते हैं, जैसे युवराज राजवर्मा के एक भाण के इस वर्णन में—

नग्नां वीक्ष्य नभस्थलीं विलुलितप्रत्यग्रधाराधर-श्रेणीकञ्चुकवाससं पतिरसौ रक्तः स्वयं चुम्बति।
इत्यन्तश्चिरमाकलय्य रजनी शोकातिरेकादिव, व्यादायाम्बुजमाननं विलपति व्यालोलभृङ्गारवैः ॥

लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति ।

अथ प्रहसनम्—

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ।

(तन्त्रीभाण्ड पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ।
शुष्कगान गेयपदम्,)

(२) स्थितपाठ्य—स्थितपाठ्य वह है-जहाँ नायिका मदन से उत्तप्त होकर प्राकृत में गीत पढ़ती है ।

(स्थितपाठ्यं तदुच्यते
मदनोत्तापिता यत्र, पठति प्राकृत स्थिता ॥)

(३) आसीन—जहाँ किसी भी वाद्य की स्थिति न हो, तथा शोक व चिन्ता से युक्त स्त्री गात्र को फैलाती हुई गीत गावे, वह आसीन लास्याङ्ग है ।

(निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताऽबला ।
सुप्रसारितगात्रं यदासीदासीनमेव तत् ॥)

(४) पुष्पगण्डिका—वह गेय जिसमें वाद्यों का प्रयोग होता है, विविध छन्द पाये जाते हैं, तथा स्त्री एवं पुरुष की विपरीत चेष्टा पाई जाती है, पुष्पगण्डिका है ।

(आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥)

(५) प्रच्छेदक—पति को अन्यासक्त मानकर प्रेमविच्छेद के क्रोध व शोक से जब स्त्री वीणा के साथ गाती है, वह प्रच्छेदक कहलाता है ।

(अन्यासङ्ग पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥)

(६) त्रिगूढ—जहाँ स्त्री-वेशधारी पुरुष नाचें व गायें, वह मधुर गान त्रिगूढक कहलाता है ।

(स्त्रीवेशधारिणा पुंसा नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।)

(७) सैन्धव—जहाँ कोई नायक सङ्केतस्थल पर प्रिया के न आने पर, प्राकृत में इस प्रकार वचन कहता है कि उसका करण (गीतप्रकार) स्पष्ट रहता है, उसे सैन्धव कहते हैं ।

(कश्चन भ्रष्टसङ्केतः सुव्यक्तकरणान्वितः ।
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत् सैन्धवं विदुः ॥)

(८) द्विगूढ—मुख तथा प्रतिमुख से युक्त चतुरस्रपद गीत द्विगूढ है ।

(चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम्, द्विगूढम् ॥)

(९) उत्तमोत्तमक—रस तथा भाव से युक्त गीत उत्तमोत्तमक कहलाता है ।

(रसभावाढ्यमुत्तमोत्तमकं पुनः ॥)

(१०) उक्तप्रत्युक्त—जहाँ मान तथा प्रसाद हो, नायक का तिरस्कार हो, रस से युक्त हो, हाव तथा हेला से युक्त हो, तथा चित्रबन्ध के कारण जो सुन्दर हो, जिसमें उक्ति-प्रत्युक्ति पाई जाती हो, तथा उपालम्भ हो एवं झूठी बातें हों, जिसमें शृङ्गारचेष्टा पाई जाती हो; ऐसा गीत उक्तप्रत्युक्त कहलाता है ।]

---

१. 'लक्षणम्' इति पाठान्तरम् ।

तत्र शुद्धं तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥
विकृतं, सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् । वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ।

अथ डिमः—

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।

(कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् । हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ॥
उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् । विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ॥)

प्रहसन नामक रूपकभेद वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, अङ्क तथा लास्यादि में भाण की ही तरह होता है । यह शुद्ध, विकृत तथा सङ्कर इन भेदों से तीन तरह का होता है । इनमें शुद्ध प्रहसन में पाखण्डी, ब्राह्मण, आदि नौकर और नौकरानियाँ (चेट तथा चेटी) का जमघट होता है—ये इसके पात्र हैं । इनके वेश तथा इनकी भाषा के अनुरूप चेष्टा यहाँ पाई जाती है, तथा इनका वचन (कथनोपकथन) हास्ययुक्त होता है (तथा यह हास्यपूर्ण वचन से युक्त होता है ।)

पाखण्डी का अर्थ ढोंगी संन्यासी—बौद्ध, जैन आदि भिक्षुओं से है—ब्राह्मण बड़े भोले-भाले पात्र होते हैं, अथवा ये केवल अपनी जाति पर ही आश्रित रहते हैं । ये प्रहसन के हास्य रस के विभाव हैं । इनके उपयुक्त व्यापार का निबन्धन, जहाँ सेवक-सेविका का व्यवहार भी पाया जाता है शुद्ध कोटि का प्रहसन है ।

जहाँ ऐसे नपुंसक, कञ्चुकी या तपस्वी पात्र निबद्ध हों, जो कामुक लोगों के वचन व वेष का प्रयोग करें, वह प्रहसन विकृत कहलाता है । धूर्त व्यक्तियों से पूर्ण प्रहसन सङ्कीर्ण कहलाता है । इस प्रहसन में केवल हास्य रस का ही प्रयोग करना चाहिए । यह हास्य रस पूरी तरह से अपने छः भेदों में उपनिबद्ध होना चाहिए ।

नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिमः, तत्रेतिहाससिद्धमितिवृत्तम्, वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः, रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट्, स्थायी तु रौद्रो न्याय्यप्रधानः, विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः, मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥ ६० ॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।

कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों—सात्त्वती, आरभटी व भारती—का समावेश होता है। इसमें नेता देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि मर्त्येतर जाति के होते हैं। अथवा भूत, प्रेत, पिशाच आदि पात्रों का भी समावेश होता है। इसके पात्र संख्या में १६ होते हैं तथा वे बड़े उद्धत होते हैं। इसमें शृङ्गार व हास्य के अतिरिक्त बाकी छः रसों का प्रदीपन पाया जाता है। इसका अङ्गी रस रौद्र होता है तथा इसमें माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं तथा चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें केवल चार अङ्क होते हैं, तथा विमर्श सन्धि के अतिरिक्त बाकी चार सन्धियाँ पाई जाती है।

'डिम सङ्घाते' इस धातु से जिसका अर्थ घात-प्रतिघात करना है, डिम शब्द की व्युत्पत्ति होती है। अतः डिम का तात्पर्य वह रूपक है जहाँ नायक का सङ्घात व्यापार हो। इसका इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है, कैशिकी से इतर तीन वृत्तियाँ पाई जाती हैं, तथा वीर-रौद्र-बीभत्स-अद्भुत-करुण-भयानक ये छः रस पाये जाते हैं। इनमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिए। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा निर्वहण ये चार सन्धियाँ अङ्गों सहित पाई जाती हैं, इसमें माया, इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह होती है। यही बात महर्षि भरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की तुल्यता के बारे में बताई है :—

'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में इसी लक्षण को बताया है। इसलिए त्रिपुरदाह डिमसंज्ञक है।'

व्यायोग की कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध होती है, तथा किसी प्रसिद्ध उद्धत व्यक्ति (पौराणिक व्यक्तित्व) पर आश्रित होती है। इसमें गर्भ तथा विमर्श ये दो सन्धियाँ नहीं होतीं। रसों की दीप्ति डिम की तरह ही होती है, अर्थात् हास्य व शृङ्गार से भिन्न रस इसमें हो सकते हैं। इसमें युद्ध वर्णित होता है, पर यह युद्ध स्त्री-प्राप्ति के कारण

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥ ६१ ॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः, तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गाररहिताः । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः । शेषं स्पष्टम् ।

अथ समवकारः—

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥ ६२ ॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥ ६३ ॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक् ।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥ ६४ ॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः[1] ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका[2] घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥

नहीं होता, जैसे जामदग्न्यजय नामक व्यायोग में परशुराम का युद्ध स्त्रीनिमित्तक नहीं है । व्यायोग की कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमें एक ही अङ्क होता है । इसके पात्रों में अधिक संख्या पुरुष पात्रों की होती है ।

'जिसमें अनेक पुरुष प्रयुक्त हों' (व्यायुज्यन्ते अस्मिन् बहवः पुरुषाः) इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्यायोग शब्द निष्पन्न हुआ है । इसमें डिम की तरह हास्य-शृङ्गारवर्जित छः रस होते हैं । रस वृत्ति से अभिन्न हैं अतः यद्यपि कारिका में व्यायोग की वृत्ति का उल्लेख नहीं, पर रस के अनुकूल कैशिकीरहित अन्य वृत्तियों की स्थिति स्पष्ट होती है । यहाँ युद्ध वर्णित होता है, जो अस्त्रीनिमित्तक होता है, जैसे परशुराम ने पिता के वध से कुपित होकर सहस्रार्जुन को मारा । अन्य सब स्पष्ट है ।

समवकार में भी नाटक की तरह आमुख की योजना करनी चाहिए । इसकी कथा देवताओं व दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध वस्तु होती हैं । इसमें विमर्श-सन्धि नहीं होती । कैशिकी से भिन्न वृत्तियाँ पाई जाती हैं तथा इसके नेता—पात्र देवता व दानव होते हैं । ये नायक इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में १२ होते हैं । इन सब का फल भिन्न-भिन्न होता है । ये सभी नायक वीररस से पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन में पाये जाते हैं (इस प्रकार इसका रस वीर होता है) । इसमें तीन अङ्क होते हैं जिसमें तीन बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम या शृंगार तथा तीन बार पात्रों में भगदड़ व विद्रव का संयोजन किया जाना चाहिए । इसके पहले अङ्क में मुख व प्रतिमुख ये दो सन्धियाँ होनी चाहिए तथा इसकी कथा २४ घड़ी (१२ नालिका) की होनी चाहिए । बाकी के दो अङ्कों में क्रमशः ४ तथा २ नालिका की कथा होनी चाहिए ।

१. 'नाडिकः' इत्यपि पाठः । २. 'नाडिका' इत्यपि पाठः ।

नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकाः, तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः, त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः, यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ, नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैकः शृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

अथ वीथी—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

नालिका से मतलब दो घड़ी से है। इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे वस्तु, स्वभाव तथा शत्रुओं के द्वारा विहित होते हैं। इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव (पलायन) का वर्णन होता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम तीनों तरह का शृङ्गार पाया जाता है; तथा बिन्दु नामक अर्थप्रकृति, प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपक्षेपक) नहीं पाया जाता। प्रहसन की तरह इसमें यथावश्यक वीथ्यङ्गों की योजना की जानी चाहिये।

'इसमें काव्य के प्रयोजन छितराये जाते हैं' (समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः) इस व्युत्पत्ति से समवकार निष्पन्न होता है। इसमें नाटक की तरह ही आमुख होता है। कारिका का 'अपि' यह बताता है कि सारे रूपकों में आमुख अवश्य होना चाहिए। विमर्शवर्जित चार सन्धियाँ होती हैं, तथा देव, दैत्य आदि १२ नायक-पात्र होते हैं। इन पात्रों के फल भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि नेताओं को क्रमशः लक्ष्मी आदि की फल प्राप्ति होती है। इसमें वीर अङ्गी रस होता है, बाकी रस अङ्ग होते हैं, तथा तीन अङ्क होते हैं। इनमें से प्रथम अङ्क का इतिवृत्त १२ नालिका का होता है। बाकी दो अङ्क क्रमशः चार नालिका व दो नालिका के इतिवृत्त से युक्त होते हैं। नालिका का तात्पर्य दो घड़ी है। हर अङ्क में तीन कपट तथा नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि से जनित विद्रवों में से एक-एक विद्रव वर्णित होना चाहिए। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन तरह के शृङ्गारों में से हर अङ्क में एक एक शृङ्गार की योजना होनी चाहिये। वीथ्यङ्गों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। नाटक के बारे में बिन्दु व प्रवेशक का वर्णन किया गया है, पर यहाँ उनकी योजना नहीं की जानी चाहिए। यह समवकार का लक्षण है।

वीथी कैशिकी वृत्ति में निबद्ध की जानी चाहिए। उसमें सन्धि उसके अङ्ग तथा अङ्क भाण की तरह होते हैं—अर्थात् मुख निर्वहण ये दो ही सन्धियाँ होती हैं तथा केवल एक अङ्क। इसका सूच्य रस शृङ्गार होता है, वैसे वह दूसरे रसों का भी स्पर्श

युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्धात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ।

वीथीवद्वीथी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद्भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति । शेषं स्पष्टम् ।

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

अथेहामृगः—

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ॥ ७२ ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।

कर सकता है । यह प्रस्तावना के उद्घात्यक आदि उपर्युक्त अङ्गों से युक्त होती है । इस तरह वीथी में दो-एक पात्रों की ही योजना करनी चाहिए ।

वीथी मार्ग को कहते हैं—यह रूपकभेद मार्ग की तरह है अतः वीथी कहलाता है । इसमें सन्ध्यङ्गों का सन्निवेश भाण की तरह ही होना चाहिये । भेद यह है, कि इसमें शृङ्गार रस होता है, उसका पूर्ण परिपाक न होने के कारण वह सूच्य होता है और रसों का भी थोड़ाबहुत स्पर्श करना चाहिये । कैशिकी-वृत्ति शृङ्गाररस के औचित्य के कारण ही विधेय है ।

अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क नामक रूपकभेद में इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है, पर कवि को उसमें अपनी बुद्धि से हेर-फेर कर लेना चाहिए । इसका स्थायी रस करुण होता है, तथा इसके नेता-पात्र प्राकृत (सामान्य) मनुष्य होते हैं । इसके सन्धि, वृत्ति व अङ्क भाण की तरह होते हैं—अर्थात् इसमें केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं; भारती वृत्ति पाई जाती है, तथा एक अङ्क होता है । करुण रस होने के कारण इनमें स्त्रियों का रुदन होना चाहिए । इसके पात्रों में वाग्युद्ध की एवं जय तथा पराजय की योजना की जानी चाहिये ।

कारिकाकार ने अङ्क को उत्सृष्टिकाङ्क इसलिए कहा है कि नाटक के अन्तर्गत वर्णित अङ्क से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाय । बाकी कारिका स्पष्ट है ।

ईहामृग की कथा मिश्रित—प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है । इसमें चार अङ्क होते हैं तथा तीन सन्धियाँ—अर्थात् गर्भ व अवमर्श नहीं होते । नर तथा देवता के नियम से इसमें नायक व प्रतिनायक की योजना होती है । ये दोनों इतिहास-प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं । प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कार्य करने वाला वर्णित होना चाहिये । यह किसी दिव्य स्त्री को—जो उसे नहीं चाहती, भगा कर ले

शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः । ख्याताख्यातं वस्तु अन्यः= प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः । स्पष्टमन्यत् ।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

स्पष्टम् ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

जाना चाहता है—इस तरह कवि को चाहिये कि कुछ-कुछ इसका शृङ्गाराभास भी प्रदर्शित किया जाय। इन नायक व प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक ले जाकर किसी बहाने से युद्ध को हटा दे, उसका निवारण कर दे। उसके वध के समीप होनेपर भी उसका वध कभी न करावे।

ईहामृग का यह नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें नायक हिरन की तरह—किसी अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात व उत्पाद्य का मिश्रण होती है। कारिका का 'अन्य' शब्द प्रतिनायक का सूचक है, जो मिथ्या ज्ञान के कारण अनुचितकारी होना चाहिए। बाकी स्पष्ट है।

कवि को चाहिये कि इस तरह से दशरूपक के लक्षणों से चिह्नित मार्ग को अच्छी तरह समझ कर, कथावस्तु का निरीक्षण कर तथा प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का अनुशीलन कर, स्वाभाविक (अयत्नज) अलङ्कारों से युक्त, तथा प्रकट एवं सरल छन्द वाले, उदार एवं मधुर—अर्थ की समता वाले तथा रमणीय—वाक्यों के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करे।

तृतीयः प्रकाशः



अथ चतुर्थः प्रकाशः ।

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम् = निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

रूपकों की विशेषता का विवेचन करते हुए प्रथम प्रकाश में वस्तु का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया तथा द्वितीय प्रकाश में सपरिकर नायक की विवेचना की गई। तीसरे प्रकाश में रूपकों के विभिन्न प्रकारों के लक्षण बताये गये। अब रूपकों के आनन्दभूत रस की विवेचना आवश्यक हो जाती है, क्योंकि रूपकों के तीन तत्त्वों में से एक 'रस' भी है। अतः अब यहाँ चतुर्थ प्रकाश में धनञ्जय रस के भेदों का प्रदर्शन करते हैं।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं व्यभिचारियों के द्वारा जब रत्यादि स्थायी भाव आस्वाद्य—चर्वणा के योग्य—बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है।

काव्य में प्रयुक्त अथवा नाटकादि अभिनय के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा—जिनका लक्षण व स्वभाव आगे इसी प्रकाश में वर्णित किया जायगा—जब श्रोताओं (श्रव्य काव्य के सम्बन्ध में) तथा दर्शकों (रूपकों के सम्बन्ध में) के हृदय में परिवर्तनशील रत्यादि स्थायी भाव—जिसका लक्षण हम आगे करेंगे—आस्वाद्य या स्वादगोचर होता है, तो वही रस कहलाता है। काव्य या नाटक का यह स्वाद अनुपम आनन्द से युक्त चेतना वाला होता है। रस का स्वाद लेने वाले रसिक हैं, अतः सामाजिक इसी नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार की अलौकिक निर्भर आनन्द-चेतना को प्रकट करने के कारण; उसके हेतु होने से, श्रव्य या दृश्य काव्य 'रसवत्' कहलाता है, ठीक उसी तरह जैसे 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरण में घृत को 'आयु' कहा जाता है। वृत्तिकार का अभिप्राय यह है कि घृत मनुष्य की आयु तथा बल बढ़ाता है, इस बात को देखकर घृत में आयु का हेतुत्व स्पष्ट है। इसलिए उपचार या लक्षणा शक्ति के आधार पर हम घृत को भी आयु कह देते हैं, एक तौर से घृत में आयुष्य को उपचरित कर लेते हैं। ठीक इसी तरह काव्य आनन्दरूप ज्ञानस्वरूप रस को प्रकट करने का कारण है; इसलिये उसमें कार्यकारण-भावजन्य लक्षणा के आधार पर ही हम 'रसवत्' का उपचार कर 'रसवत् काव्यम्' इस प्रकार का प्रयोग करते हैं।[1]

---

१. यहाँ ध्यान देने की बात है कि धनञ्जय व धनिक दोनों ही मीमांसक भट्ट लोल्लट के मतानुयायी हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के हेतु हैं, तथा उसमें वे परस्पर 'उत्पाद्य-उत्पादक' सम्बन्ध मानते हैं। 'स्वाद्यत्वम् आनीयमानः' का दूसरा पद भी इसी बात का सङ्केत करता है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की विभिन्न व्याख्यायें भूमिका भाग में द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर यह कह देना होगा कि ध्वनिवादी साहित्यशास्त्री रस को व्यङ्ग्य

तत्र विभावः—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा॥ २॥

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः।

यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञातार्थ इति' तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषू-

---

अब रस के हेतुभूत विभावादि में सर्वप्रथम विभाव का ही विवेचन करते हैं :—

विभाव शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाव्यत इति' इस प्रकार होने से इसका अर्थ यह है, कि विभाव वह है, जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है, वह विभाव है। यह विभाव भाव (स्थायी भाव) को पुष्ट करने वाला है, उसे रसरूप में परिणत करने वाला है। यह विभाव, आलम्बन तथा उद्दीपन इस भेद से दो तरह का होता है।

श्रव्य काव्य में वर्णित या दृश्य काव्य में मञ्च पर प्रदर्शित दुष्यन्त-शकुन्तला या राम सीता का रूप धारण करने वाले पात्रों को ही हम वैसा मान लेते हैं। जिस रूप में काव्य में दुष्यन्तादि का व्यापार उपनिबद्ध होता है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण रहता है, पर इस अतिशयोक्ति रूप वर्णन के द्वारा कविविशिष्ट दुष्यन्तादि के रूप को ही सम्पादित करता है, और सामाजिक यह समझ लेता है कि 'दुष्यन्त इस तरह का है, राम इस तरह का है, शकुन्तला इस तरह की है, सीता इस तरह की है।' इस प्रकार के विशिष्ट रूप में सामाजिकों के ज्ञान का विषय बनाने वाले, उनके द्वारा विभावित होने वाले विभाव कहलाते हैं। ये आलम्बन रूप में नायकादि, दुष्यन्त-शकुन्तला, राम सीता आदि हो सकते हैं, या उद्दीपन रूप में इष्ट देशकाल आदि, मालिनीतट, मलयानिल, वसन्त ऋतु, पुष्पवाटिका आदि होते हैं। विभाव का अर्थ है, सामाजिकों के द्वारा ज्ञायमान अर्थ, जैसा कि किसी आचार्य ने कहा है :—'विभाव का अर्थ है जिसका अर्थ ज्ञात हो।' ये आलम्बन व उद्दीपन विभाव रसादि के भेद के अनुसार रसों के वर्णन करते समय वर्णित होंगे।

विभावों के ज्ञायमानत्व के विषय में कोई पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि काव्य के विभावादि तो शब्दों तक ही सीमित रहते हैं, उनकी वास्तविक सत्ता तो होती ही नहीं-क्योंकि दृश्य काव्य में भी दुष्यन्तादि वास्तविक न होकर अवास्तविक हैं, ठीक यही बात मालिनीतटादि उद्दीपन विभाव के लिए कही जा सकती है—तो फिर उनकी वस्तुशून्यता के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता, अतः काव्य के विभावादि में ज्ञायमानत्व घटित नहीं होता। इसी शङ्का का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं, कि काव्य में वर्णित विभावों के बारे में ठीक वही बात लागू नहीं होगी, जो लौकिक ज्ञान के विषयरूप विभावों के बारे में। लौकिक ज्ञान में उनके भौतिक सत्त्व की आवश्यकता होती है—(स्थूल के ज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से

मानते हैं, वाच्य तथा उत्पाद्य नहीं, अतः उनकी रस की परिभाषा में इसका स्पष्ट उल्लेख होता है :—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥' (साहित्यदर्पण)

पपादयिष्यामः । अमीषां चानपेक्षितवाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्वन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्वनादिभाव इति न वस्तुशून्यता ।

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥' इति ।

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति ।

तत्रालम्वनविभावो यथा—

टेबुल इन्द्रियग्राह्य होनी चाहिए।) किन्तु काव्यगत विभावों को बाह्य सत्त्व-भौतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि काव्यगत विभावों की भावना, उनका ज्ञान तो काव्य-प्रयुक्त शब्दों के द्वारा ही हो जाता है; साथ ही लौकिक ज्ञान के विषय विशिष्ट होते हैं, जब कि काव्यगत विभाव सामान्यरूप (सामान्यात्मना) होते हैं ।[1]

ये विभाव अपने-अपने रस के अनुकूल विभावित होते हैं, तथा सहृदय के चित्त में इस तरह घूमते रहते हैं, जैसे वह इनका साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर रहा हो। इन्हीं विशेषताओं से युक्त विभावों को हम आलम्वन व उद्दीपनविभाव कहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है, कि सहृदय के हृदय में इन विभावों के सामान्य रूप का साक्षात् ज्ञान होता है, इसलिए इनमें वस्तुशून्यता नहीं मानी जा सकती। शब्दों के द्वारा, जब हम किसी भी वस्तु के बौद्धिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष-सा ही होता है ।

इसकी पुष्टि में भर्तृहरि के वाक्यपदीय की यह कारिका दी जा सकती है :—

'वाक्यादि में जब 'कंस' आदि शब्द का प्रयोग करते हैं, तो शब्द के कहने के साथ ही साथ वे शब्द कंसादि के रूप को बुद्धि का विषय बना देते हैं। और फिर बुद्धिगत कंसादि को हम लोग प्रत्यक्ष रूप की नाईं कर्म, कारक आदि साधन के रूप में या अपने ज्ञान के ज्ञापक (साधक) के रूप में ग्रहण करते हैं।'

षट्सहस्रीकार ने भी यही बात कही है :—'ये विभाव, सामान्य गुणयुक्त होकर ही रस को निष्पन्न करते हैं।'

इसमें आलम्बन विभाव नाटक के सामाजिक के लिए नायक व नायिका दोनों हैं। जब कि नायक के लिए नायिका आलम्वन है, व नायिका के लिए नायक। किन्तु मोटे तौर पर आलम्बन विभाव का विवेचन करते समय नायक को ही रस का आश्रय माना जाता है। उसके लिए आलम्बन नायिका होती है। यहाँ पर इसी ढङ्ग का उदाहरण दिया जा रहा है। विक्रमोर्वशीय नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर मुग्ध हो जाता है। निम्न पद्य में वह आलम्बन विभाव रूप उर्वशी का वर्णन कर रहा है :—

---

१. लौकिक ज्ञान व काव्यसम्बन्धी ज्ञान में सभी साहित्यशास्त्री यह भेद मानते हैं, कि एक में व्यक्ति व विशिष्ट (इन्डिविडुअल) का ज्ञान होता है, दूसरे में जाति या सामान्य (Idea) का। इसी को भारतीय साहित्यशास्त्री 'साधारणीकरण' कहता है। प्लेटो काव्य का विषय विशिष्ट न मानकर सामान्य मानता है, व उसे (Idea) कहता है। यही मत शोपेनहावर का है, जो कला या काव्य का प्रतिपाद्य (The Idea of such things) को मानता है।

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः' ॥

उद्दीपनविभावो यथा—

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥'

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनु-

---

लोग कहते हैं, कि संसार के प्राणियों की रचना ब्रह्मा करते हैं, पर इस उर्वशी को देखकर तो ऐसी कल्पना होती है, कि इसकी रचना उस अरसिक बूढ़े खूसट ब्रह्मा के द्वारा नहीं की गई है। क्योंकि वेदों के बार-बार पढने से जड़ व शुष्क हृदय वाला वह बूढ़ा ऋषि ब्रह्मा, जिसका अब भोगविलास-विषय के प्रति कोई कुतूहल नहीं रह गया है, इस रमणी के ऐसे मनोहर रूप को बनाने में कैसे समर्थ हो सकता है ? हाँ, यदि इसकी सृष्टि करने में कोई स्रष्टा रहा होगा, तो मेरी ऐसी कल्पना है, कि वह या तो स्वयं चन्द्रमा ही होगा, जो कान्ति को देने वाला है, या फिर शृङ्गार का एक मात्र कोश—कामदेव रहा होगा, या ये दोनों न रहे हों, तो फिर इसकी रचना फूलों से लदे बसन्त मास ने की होगी। इतनी सुन्दर रचना करने की सामर्थ्य चन्द्रमा, कामदेव या वसन्त ऋतु में ही है, उस बूढे खूसट ब्रह्मा में कहाँ ?

उद्दीपन विभाव के *अन्तर्गत देश काल आदि का समावेश होता है।* किसी भी आलम्बन विभाव के कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव को ये उद्दीपन विभाव और अधिक उद्दीप्त कर रसत्व को पहुँचाते हैं। मान लीजिये, शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति भाव उद्बुद्ध होता है; यहाँ शकुन्तला 'आलम्बन' है। मालिनीतट, वसन्त ऋतु, लताकुञ्ज, कोकिल की काकली आदि वे विभाव हैं, जो उस रति भाव को दुष्यन्त के मन में उद्दीप्त करते हैं। ये उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यहाँ चन्द्रिका रूप उद्दीपन विभाव का उदाहरण देते हैं :—

कपूर के समान श्वेत यह चन्द्रमा, जिसने सारे विश्व को चाँदनी से धो दिया है, निर्मलता से युक्त (जिसकी निर्मलता प्रकट हो गई है) आकाश में उदित हो रहा है। इसकी, कोमल चाँदी की शलाका के समान श्वेत किरणों के द्वारा सारा संसार ऐसा सुशोभित हो रहा है, मानो निर्मल मृणाल तन्तु के पिंजरे में रखा हुआ हो।

विभाव का विवेचन करने पर प्रसङ्ग-प्राप्त अनुभाव का लक्षण बताते हैं :—

रत्यादि स्थायी भाव की सूचना करने वाले विकार (जो दुष्यन्तादि आश्रय में पाये जाते हैं) अनुभाव कहलाते हैं।

अनुभाव, इस शब्द की व्युत्पत्ति यह की जाती है, कि वे सामाजिकों को रत्यादि स्थायीभाव

भावाः, एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः।

का अनुभव कराते हैं।[1] इन्हें देखकर सामाजिकों को यह अनुभव हो जाता है, कि अमुक पात्र-दुष्यन्तादि में, अमुक स्थायी भाव उद्बुद्ध हो रहा है। ये अनुभाव भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि (आश्रय के) शारीरिक विकार हैं, तथा रस को परिपुष्ट करते हैं। अभिनय (दृश्य काव्य) तथा काव्य में इन अनुभवों का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले सामाजिकों के अनुभव के विषय होते हैं इसलिए, अथवा ये रत्यादि स्थायी भाव के बाद होते हैं इसलिए ये अनुभाव कहलाते हैं। रसिकों में ये इसी नाम से पुकारे जाते हैं। कारिका में अनुभावों को भावसंसूचक विकार कहा गया, यह लौकिक रस की दृष्टि से ही कहा गया है, काव्य में तो ये भी रसपोष के कारण ही होते हैं। (लोक में नायक-नायिका का जो प्रेम देखा जाता है, वह लौकिक रस है। वहाँ भ्रूविक्षेप आदि उस रस (प्रेम) से उत्पन्न होते हैं, अतः वे कार्य हैं। नाटक व काव्य का रस, जिसकी चर्वणा सामाजिकों द्वारा की जाती है, अलौकिक रस है। वह अनुभाव के विना उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः यहाँ इन्हें कारण ही मानना ठीक होगा।)

अनुभावों के उदाहरण के लिए धनिक का स्वरचित पद्य लिया जा सकता है, जहाँ किसी युवा को देखकर रतिभाव से आविष्ट सुन्दरी के अनुभावों का वर्णन किया गया है।

हे भोली सुन्दरी, वह कोई भी युवक सचमुच धन्य है, जिसके चेहरे की ओर (तुमने) कामवासना से पूर्ण होकर; मुँह से जँभाई लेते हुए, स्तनतट को ऊँचा उठाकर सुशोभित होते हुए, भौंहों की लता को चञ्चलता के साथ मटकाते हुए, अपने शरीर को पसीने के जल से नहलाते हुए तथा लज्जा का त्याग करते हुए, रोमाञ्चित होकर, दुग्ध-महासमुद्र के फेनसमूह के समान कान्ति वाले कटाक्षों की शोभा को व्यापारित किया। जिसकी ओर तुमने इस तरह के भाव से कटाक्ष-पात किया, वह युवक सचमुच भाग्यशाली है।

इन अनुभावों को हम प्रत्येक रस के अवसर पर उदाहृत करेंगे।

---

१. अनुभाव शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति यह भी की जाती है 'अनु पश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः' जो आश्रय में स्थायी भाव के उद्बुद्ध होने के बाद पैदा होते हैं। इसलिए इन्हें स्थायी भाव का कार्य भी कहा जाता है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी को स्थायी भाव का क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कारण माना जाता है, वैसे काव्य में ये सभी कारण हैं। यहाँ यह बात भी याद रखने की है, कि आलम्बन के शारीरिक विकार 'अनुभाव' नहीं माने जाते। वे 'हाव' 'हेला' आदि के अन्तर्गत आते हैं, तथा उद्दीपन विभाव के अङ्ग हैं।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥ ३ ॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते। तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति।

अथ भावः—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति।

यत्तु 'रसान्भावयन्भावः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभि-

---

ये विभाव तथा अनुभाव रस (लौकिक रस) के कारण तथा कार्य हैं तथा लोकव्यवहार में इनका प्रत्यक्ष रूप देखने के कारण ये व्यवहारसिद्ध हैं—(अतः इनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया है।)

ये दोनों विभाव व अनुभाव जो लौकिक रस के हेतु तथा कार्य हैं, लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध हैं, अतः इनका पृथक् लक्षणकरण आवश्यक नहीं। जैसाकि कहा गया है—'विभाव तथा अनुभाव लोकव्यवहार के द्वारा प्रमाणित हैं, तथा वे लोक-व्यवहार के अनुसार पाये जाते हैं—लोकयात्रानुगामी हैं—साथ ही लोकस्वभाव से युक्त हैं, इन कारणों से उनका पृथक् लक्षण नहीं कहा गया है।'

प्रथम कारिका में विभाव व अनुभाव के साथ सात्त्विक तथा व्यभिचारी का उल्लेख हुआ है। सात्त्विक तथा व्यभिचारी दोनों के साथ स्थायी की भाँति 'भाव' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जैसे सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव। इसलिए यहाँ 'भाव' शब्द की परिभाषा देना आवश्यक हो जाता है। उसी का लक्षण बताते हैं:—

काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय (दुष्यन्तादि) के सुख दुःख, हर्ष-शोक आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उस ही भाव से भावित होना—उस भाव तथा सामाजिक के भाव की एकतानता 'भाव' कहलाती है।

नाटक में जिन व्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है, वे वास्तविक रामादि या दुष्यन्तादि होते हैं। कवि इन्हीं में सुख-दुःख आदि भावों का उपनिबन्धन करता है, जिनका निरूपण नट करता है। इन अनुकार्य व्यक्तियों के सुख-दुःखादि भाव की भावना-वासना-जब सहृदय हृदय के द्वारा होती है, तो इस वासना को भाव कहते हैं। (मान लीजिये, शकुन्तला से विरहित दुष्यन्त को दुःखी देख कर व उसके शोक में षष्ठ अङ्क में चित्रलेखन के द्वारा जी बहलाते देख कर दुष्यन्त के दुःख के साथ हमारी एकतानता हो उठती है। जैसे दुष्यन्त के दुःखादि भाव ने हमारे मानस को भावित या वासित कर दिया है।) ठीक यही बात एक आचार्य ने कही है:—'अरे इस रस या गन्ध से यह सब कुछ भावित हो गया, वासित हो गया है।' (यह ठीक वैसे ही है जैसे अगरबत्ती आदि की धूप जो अगरबत्ती में आश्रित है, स्फुट होने पर सारे समीपस्थ प्रदेश को वासित कर देती है, वैसे ही अनुकार्य रामादि में आश्रित दुःखादि, सामाजिक के हृदय को वासित कर देते हैं।)

भाव की व्युत्पत्ति दूसरे ढङ्ग से भी की गई है—'भाव वह है जो रसों को भावित करता है;' या 'भाव वह है जो कवि के आन्तरिक भाव को भावित करता है।' इसलिए पूर्वपक्षी यह शंका

नयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तककथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—'सत्त्वं नाम मनःप्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।' इति।

ते च—

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥ ५ ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

कर सकता है, कि प्राचीन आचार्यों की 'भाव' के सम्बन्ध में यह व्युत्पत्ति है; फिर ऊपर जो नई व्युत्पत्ति दी गई वह कैसे मानी जाय। इसीका उत्तर देते हुए धनिक का कहना है कि ये दो व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की की गई हैं, जो अभिनय व काव्य का प्रवर्तक या बोधक है, तथा इसका प्रयोग उन्हीं दोनों काव्यों से सम्बद्ध भाव के लिए है। मैंने (धनिक ने) जिस अर्थ से भाव की व्युत्पत्ति की है वह रसिक के हृदय में भावित भाव की दृष्टि से। अतः दोनों का विषय भिन्न होने से इस व्युत्पत्ति का प्राचीनों की व्युत्पत्ति से कोई विरोध नहीं पड़ता। ये भाव दो तरह के होते हैं :—स्थायी तथा व्यभिचारी, इनका वर्णन आगे किया जायगा।

यद्यपि सात्त्विक भावों में अनुभावत्व है, वे अनुभावों की ही तरह आश्रय के विकार हैं, फिर भी सात्त्विक भाव अलग से भाव माने जाते हैं। इन सात्त्विकों को 'भाव' संज्ञा इसलिए दी जाती है कि ये सत्त्व (मानसिक स्थिति) से ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्व का अर्थ है, अनुकार्य रामादि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना।

दूसरे लोगों के दुःख, हर्ष आदि की भावना में जब भावक का अन्तःकरण अत्यधिक अनुकूल व एकतान हो जाय उसे 'सत्त्व' कहते हैं। जैसे कहा गया है—'सत्त्व का अर्थ है मन से उत्पन्न, यह सत्त्व मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुःखी या हर्षित होता है तो अश्रु-रोमाञ्च आदि निकल पड़ते हैं। ये अश्रु-रोमाञ्चादि सत्त्व से निर्वृत्त होते हैं, अतः सात्त्विक भाव कहलाते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये अश्रु आदि—किन्तु ये भाव के सूचक हैं—भाव कहलाते हैं; दूसरी ओर ये विकार रूप भी हैं इसलिए अनुभाव भी हैं। इस तरह अश्रु आदि एक ओर सात्त्विक भाव व दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से युक्त होते हैं।

(निम्नोक्त आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त और विकाररूप अनुभाव ही होते हैं।)

ये सात्त्विक भाव आठ हैं :—स्तम्भ, प्रलय (अचेतनता), रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य (मुँह का रङ्ग फीका पड़ जाना), वेपथु (कम्प), अश्रु, वैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन)। स्तम्भ का अर्थ है अङ्गों का निष्क्रिय हो जाना, तथा प्रलय का अर्थ है संज्ञा—चेतना—का नष्ट हो जाना। बाकी नाम स्पष्ट ही हैं।

यथा—

वेवइ सेअदववदनी रोमञ्चिअ गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ ॥'
('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्लयां रणति ॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति')

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥ ७ ॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः।

ते च—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥ ८ ॥

उदाहरण के रूप में एक ही उदाहरण में सारे सात्विक भावों का उल्लेख करते हैं :—

हे युवक, तेरे प्रेम के कारण वह नायिका बिलकुल धैर्य धारण नहीं करती। उसके चेहरे पर पसीना आ जाता है, उसके शरीर में रोंगटे उठ आते हैं, तथा वह काँपने लगती है। उसका चञ्चल कड़ा (हाथ का वलय) बाहुरूपी लता में मन्द-मन्द शब्द करता है। उसका मुँह काला पड़ जाता है, तथा क्षण भर के लिये मूर्च्छित हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता कुछ भी धीरज नहीं धरती।

अब प्रसङ्गप्राप्त व्यभिचारीभावों का सामान्यलक्षण बताते हैं :—जो भाव विशेष रूप से, अर्थात् आभिमुख्य से, स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-डूबते-उतराते-नजर आते हैं, वे व्यभिचारी भाव होते हैं। ये भाव स्थायी भाव में इसी तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते हैं, जैसे समुद्र में तरङ्गें उठती हैं व विलीन हो जाती हैं।

जैसे समुद्र में ही लहरें पैदा होती हैं और विलीन होती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव में ही निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आविर्भूत होते हैं तथा तिरोहित हो जाते हैं, इस प्रकार व्यभिचारी भाव विशेष रूप से स्थायी भाव में ही उठते व विलीन होते रहते हैं। ये भाव ३३ होते हैं।

ये व्यभिचारी भाव ३३ होते हैं :—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्रय, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, उत्सुकता (औत्सुक्य) तथा चपलता।

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥'

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

(निर्वेद)

तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्या के कारण स्वयं का तिरस्कार, निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। इसके चिह्न (अनुभाव) चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता हैं।

तत्त्वज्ञान से निर्वेद जैसे—

अगर समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो उससे क्या ? शत्रुओं के सिर पर पैर रख दिया गया हो, उन्हें जीत लिया हो, तो उससे क्या ? मित्रों व स्नेही बान्धवों को धनादि से तुष्ट कर दिया हो, तो क्या लाभ ? शरीरधारी मनुष्यों के शरीर आकल्प जीवित रहें, तो भी क्या लाभ ?

आपत्ति से निर्वेद जैसे—

राजा के लिए विपत्ति, बान्धवों के वियोग का दुःख, देश का खो देना, तथा दुर्गम मार्ग में घूम कर कष्ट सहना—(विरोधी बातें हैं ।) पर मेरे द्वारा कड़वे फलवाली, शाश्वत रहने वाली, इस (प्रकृति-स्वभाव) का यह फल चखा जा रहा है ।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारि निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
संक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं चाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम् ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः ।

अथ ग्लानिः—

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।

वीर तथा शृङ्गार रस के व्यभिचारिभावरूप निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

जो हाथ, न तो युद्ध में वैरियों के कठोर कण्ठतट में उछलते हुए, खून से सुशोभित भाग वाले हैं; और न प्रिया के पीन स्तनों की पत्रावली के कुङ्कुम रस से गीले ही हुए हैं, निःसन्देह वे हाथ निष्फल ही हैं ।'

यह उक्ति ऐसे व्यक्ति के निर्वेद की सूचक है, जिसे न तो अपने लायक शत्रु ही मिला है, न कोई सुन्दरी प्रिया ही प्राप्त हुई है । जैसे यहाँ वीर तथा शृङ्गार के व्यभिचारिभूत निर्वेद का उदाहरण दिया गया, वैसे दूसरे रसों के अङ्गरूप में भी इसका उदाहरण दिया जा सकता है ।

निर्वेद स्वतन्त्र रूप में भी पाया जा सकता है, जहाँ वह किसी रस का अङ्ग नहीं रहता । स्वतन्त्र निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

कोई व्यक्ति शाखोटक वृक्ष से प्रश्न पूछ रहा है, तथा वह उत्तर देता है । इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद बताया गया है ।

'तुम कौन हो, भाई' 'कहता हूँ, मैं अभागा शाखोटक हूँ' 'तुम तो वैराग्य से बोल रहे हो ।' 'तुमने ठीक समझा' 'ऐसा क्यों' 'तो सुनो देखो, इधर बाईं ओर एक बरगद का पेड़ है । राहगीर उसे हर तरह से सेते हैं । यद्यपि मैं सड़क पर खड़ा हूँ, तथापि मेरी छाया भी दूसरे का उपकार नहीं कर पाती ।'

(अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वेद सूच्य है, जो दिल से तो परोपकार करना चाहता है, पर उसके पास परोपकार करने के साधन नहीं हैं ।)

यह निर्वेद विभाव, अनुभाव तथा रस के अङ्ग रूप में तथा स्वतन्त्र रूप में अनेक प्रकार का दिखाया जा सकता है ।

(ग्लानि)

सुरत आदि से जनित परिश्रम, तृषा तथा क्षुधा के द्वारा जो निष्प्राणता हो जाती है,

वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः। अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः।

यथा माघे—

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥'

शेषं निर्वेदवदूह्यम्।

अथ शङ्का—

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात्।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥ ११

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।

उसे ग्लानि भाव कहते हैं। इसके अन्तर्गत वैवर्ण्य, कम्प, अनुत्साह, अङ्ग, वचन व क्रिया का मन्द हो जाना—ये अनुभाव पाये जाते हैं।

ग्लानि का उदाहरण माघ के एकादश सर्ग का निम्न पद्य दिया गया है :—

देखो, प्रातःकाल होते ही ये वारविलासिनियाँ, जिनके नेत्रों की पुतलियाँ निष्कम्प हो गई हैं; जिनके मुखरूपी चन्द्रबिम्ब दुबले पड़ गये हैं (क्षीणकान्ति हो गये हैं); और जिनकी नील कमल के समान नींद के कारण सुन्दर आँखें मुरझा गई हैं; अन्धकार के समान फैले घने काले केशपाश को धारण करती हुई, राजाओं के घर से इसी तरह लौट रही हैं, जैसे प्रातःकाल के कारण प्रकाशहीन तारों वाली; फीके चन्द्रमा वाली तथा क्लान्त इन्दीवर से युक्त, अन्धकारमय रात्रियाँ राजगृह से वापस जा रही हों।

ग्लानि के विषय में रसाङ्गता या अनङ्गता ठीक उसी तरह समझी जानी चाहिए, जैसा हम निर्वेद के बारे में कह चुके हैं।

(शङ्का)

जहाँ दूसरे व्यक्ति की क्रूरता या अपने दुर्नय (दुर्व्यवहार) के कारण अनर्थ की आशङ्का हो, उसे शङ्का कहते हैं। शङ्का के अन्तर्गत कम्प, शोष, डरकर इधर-उधर देखना, स्वरभङ्ग आदि अनुभाव होते हैं।

परक्रौर्यजनित शङ्का जैसे रत्नावली नाटिका में-(राजा उदयन रत्नावली की दशा का वर्णन करते कह रहा है।)

यह प्यारी रत्नावली अपने हृदय में शङ्कित होने के कारण सचमुच ही व्यथित दृष्टिगोचर होती है। लोगों के आगे से यह लज्जा के साथ अपना मुँह यह समझ कर छिपा लेती है कि उन्होंने इसके गुप्त प्रेम को जान लिया है। किन्हीं दो लोगों को बातचीत करते देखकर वह यही समझती है कि वे उसी के बारे में बात कर रहे हैं। सखियों को अपनी ओर मुस्कराते

सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥'

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

'दूराद्दवीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥'

अनया दिशाऽन्यदनुमर्तव्यम् ।

अथ श्रमः—

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥'

रतिश्रमो यथा माघे —

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥'

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

देखकर वह अत्यधिक लज्जित हो जाती है। इन सारी चेष्टाओं को देखने से पता चलता है कि वह अत्यधिक शङ्कित हो रही है।

स्वदुर्नयजनित शङ्का, जैसे महावीरचरित में—

जिस छोटे से राजपुत्र ने दूर से ही पर्वत के समान डीलडौल वाले ताडका के पुत्र मारीच राक्षस को तिनके की तरह उड़ा दिया, तथा जो सुबाहु का मारने वाला है, वह ताडका का शत्रु राजकुमार (राम) मुझे हृदय में व्यथित कर रहा है।

इसी तरह और भी समझना चाहिए।

(श्रम)

मार्ग में चलने के कारण या सुरत के कारण जनित खेद को श्रम कहते हैं। इसमें स्वेद, मर्दन आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

मार्गजनित श्रम, जैसे उत्तररामचरित में (राम सीता से कहते हैं)—

हे सीते, यह वही स्थान है, जहाँ मार्ग में चलने के कारण उत्पन्न खेद से अलसाए मनोहर एवं मुग्ध अङ्गों को, जो कुम्हलाए बिसतन्तु के समान दुर्बल थे, तथा जिन्हें मैंने गाढ आलिङ्गनों के द्वारा संवाहित किया (दबाया) था—मेरे वक्षःस्थल पर रखकर तुम सो गई थी।

रतिश्रम, जैसे शिशुपाल वध के दशम सर्ग में—

काले तथा लम्बे बालों वाली रमणियाँ, जिनको स्तन का भार वहन करना बड़ा कठिन हो गया था, मन्मथ राग के कारण सुरत की पराकाष्ठा को प्राप्ति कर (अत्यधिक सुरतक्रीडा करके), पसीने की बूँदों से गीले ललाट पर चिपके हुए बालों को धारण करती हुई, थक गईं।

श्रम के विषय में उदाहरणादि इसी तरह समझ लेना चाहिए।

अथ धृतिः—

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२ ॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥'

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

(धृति)

ज्ञान, शक्ति आदि के कारण जहाँ ऐसा सन्तोष हो जाय, जो विना किसी व्यग्रता के कर्मभोग को भोगे, वह सन्तोष धृति (धैर्य) कहलाता है।

ज्ञान से धृति जैसे भर्तृहरिशतक में—(कोई सन्तोषी सम्पत्तिवान् से कहता है)

हम लोग इन वल्कलों से ही सन्तुष्ट हैं और तुम सम्पत्ति से प्रसन्न हो। इस तरह तुम्हारा और हमारा सन्तोष समान है। अब हम लोगों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिसकी तृष्णा बहुत बढ़ी होती है, वह दरिद्र हो सकता है। अरे जब मन ही सन्तुष्ट है तो कौन सम्पत्तिशाली और कौन दरिद्र ?

शक्ति से जनित धृति, जैसे रत्नावली नाटिका के उदयन में धृति भाव की स्थिति—

राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं। अब कोई भी शत्रु ऐसा नहीं जो राज्य में विघ्न उपस्थित करे। राज्यशासन का सारा भार सुयोग्य मन्त्री यौगन्धरायण को सौंप दिया है। प्रजाओं को अच्छी तरह से लालित व पालित किया गया है, उनके सारे दुःख-उपसर्ग-(अकाल आदि ईतियाँ) शान्त हो चुके हैं। मेरे हृदय को प्रसन्न रखने के लिए प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता मौजूद है और तुम (वसन्तक) मौजूद हो। इन वस्तुओं के नाम से ही काम (इच्छा) धैर्य को प्राप्त हो। अथवा इन सब वस्तुओं के विद्यमान होने पर कामदेव मजे से आये, मैं तो यह समझता हूँ कि मेरे लिए यह बहुत बड़े उत्सव का अवसर उपस्थित हुआ है। मैं कामदेव के उत्सव का स्वागत करने को प्रस्तुत हूँ।

इसी तरह और भी समझना चाहिए।

(जड़ता)

ईप्सित या अनीप्सित वस्तु के देखने या सुनने से जो अज्ञानावस्था तथा किंकर्तव्य-

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥'

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यं तत्र च कृष्णतामलिनवसनदर्शनादयोऽनुभावाः । यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥'

शेषं पूर्ववत् ।

अथौग्र्यम्—

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १५ ॥

यथा वीरचरिते—'जामदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥'

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥'

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।

(औग्र्य)

अपराध, दुष्टता, क्रूरता आदि के कारण दुष्ट व्यक्ति के प्रति जो क्रोध आता है, जो कर्कश भाव उत्पन्न होता है, उसे उग्रता कहते हैं। इसके अनुभाव हैं :—स्वेद, सिर को हिलाना, लोगों को डराना, धमकाना तथा पीटना आदि।

जैसे महावीरचरित में परशुराम की निम्न उक्ति में—

क्षत्रियों की सन्तान के प्रति जनित रोष के कारण गर्भ में स्थित भ्रूणों को भी काट काट कर टुकड़े करते हुए; तथा समस्त राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों को २१ बार मौत के घाट उतारने वाले दुर्धर्ष तेज वाले, मेरा स्वभाव समस्त प्राणियों द्वारा विदित न हो यह बात नहीं है, बल्कि हर एक व्यक्ति मेरे इस स्वभाव को जानता है कि मैंने राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों के रक्त से भरे तालाबों में तर्पणादि करके अत्यधिक आनन्दित होकर अपनी क्रोध रूपी अग्नि को शान्त किया है, तथा इस प्रकार पितृ-कार्य श्राद्ध तर्पणादि विहित किया है।

(चिन्ता)

ईप्सित वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण उसके बारे में जो ध्यान किया जाता है, उसे चिन्ता कहते हैं। इसके अनुभाव शून्यता, बुद्धि की निष्क्रियता, श्वास तथा ताप हैं।

हे लम्बी-लम्बी आँखों वाली सुन्दरी, बताओ तो सही वह कौन सौभाग्यशाली व्यक्ति है, जिसे—कोमल मृणाल नाल के वलय के आभूषण वाले सुन्दर हाथ पर अपने मुख को रख कर, आँखों की पलकों पर गुंथे हुए मोतियों के समान अश्रुबिन्दुओं से; महादेव के हास के समान श्वेत हार के आभूषण की उरःस्थल पर रचना करती हुई; तुम याद कर रही हो।

अथवा,

इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान अस्तकर, नेत्र कमलों को बन्द किये, अत्यधिक साँस वाली,

ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू-
वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥'

अथासूया—

परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥ १७ ॥

गर्वेण यथा वीरचरिते—

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यका ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥'

यह सुन्दरी, योग में स्थित, योगिनी के समान किसी अलक्ष्य वस्तु (प्रिय) का ध्यान कर रही है।

(त्रास)

बादल की गरज आदि से जनित मन का क्षोभ त्रास कहलाता है, इसके अनुभाव कम्प आदि हैं।

जैसे माघ के अष्टम सर्ग के जलविहारवर्णन में—

रमणियाँ अपने प्रियों के साथ जलविहार कर रही हैं। किसी सुन्दरी की जाँघ के पास से पानी में तैरती हुई मछली स्पर्श कर जाती है, उससे डरी हुई वह रमणी सुन्दर बन जाती है। रमणियाँ तो बिना किसी कारण के ही, केवल लीला व शृङ्गारिक चेष्टा से ही, बहुत ज्यादा चञ्चल हो उठती हैं, तो फिर कहीं सचमुच में कोई क्षोभ पैदा करने वाला कारण विद्यमान हो, तो उनके क्षोभ के बारे में कहना ही क्या?

(असूया)

घमण्ड, दुष्टता, तथा क्रोध के कारण किसी दूसरे व्यक्ति की उन्नति को न सह सकना असूया कहलाता है। इसमें दोष से युक्त उक्ति का प्रयोग, उस व्यक्ति के प्रति अनादर, भ्रुकुटि, क्रोध, शोक आदि चिह्न पाये जाते हैं।

गर्वजनित असूया जैसे महावीरचरित की इस उक्ति में जहाँ रावण के गर्व का उल्लेख किया गया है:—

रावण ने जनक से अर्थी बन कर सीता को माँगा, पर फिर भी स्वामी रावण को फलप्राप्ति न हो सकी। बल्कि उनसे शत्रुता करने वाले विरोधी दशरथ के पुत्र राम को वह कन्या मिल गई। शत्रु की उन्नति, स्वयं के मान तथा यश का ध्वंस, तथा स्त्रीरत्न का इस तरह हाथ से चला जाना, भला वह घमण्डी जगत्पति रावण कैसे सह सकेगा?

दौर्जन्याद्यथा—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि ॥'

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥'

दुष्टताजनित असूया, जैसे—

अगर तू दूसरों के गुणों को नहीं सह सकता, तो खुद ही गुणों के अर्जन का प्रयत्न कर। दूसरों की निन्दा कर-कर इस बहाने से उनके यश को हटाने की, उसे धोने की चेष्टा करना ठीक नहीं है। इच्छा व द्वेष से भरे मनोरथ वाला है तू दूसरों की निन्दा करने से नहीं रुकेगा, तो सूर्य की किरणों को हाथ के छत्रों से रोकने की चेष्टा करता हुआ खुद ही थक कर शान्त हो जायगा। दूसरे यशस्वी पुरुषों की निन्दा कर तू उनका उसी तरह कुछ भी नहीं बिगाड पायेगा, जैसे सूर्य की किरणों को रोकने की कोशिश करने पर भी उन्हें कोई नहीं रोक पाता।

क्रोधजनित असूया, जैसे अमरुकशतक के इस पद्यद्वय में—

कोई नायक किसी मित्र से अपने प्रति आचरित ज्येष्ठा नायिका के क्रोध का वर्णन करते कह रहा है। बातचीत के सिलसिले में उस सुन्दरी—ज्येष्ठा नायिका—के सामने मेरे मुँह से एक दम दूसरी नायिका का नाम निकल गया। उसके मुँह से निकलते ही देख कर मैं चकित हो गया, और कहीं यह ज्येष्ठा नायिका, उस दूसरी नायिका के प्रति मेरे प्रेम को न ताड़ ले, इसलिए मैं लज्जा से मुँह नीचा किये कुछ लिखने लग गया। पर, मैं मन्दभाग्य था, मेरे द्वारा जो चित्र लिखा गया, उसकी रेखायें ही कुछ इस ढङ्ग से बन गईं कि, वह कनिष्ठा उस रेखाचित्र के द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त स्पष्ट दिखाई पड़ी—वह उसीका चित्र बन गया तब उस चित्र को देखकर वह ज्येष्ठा नायिका सारी बात समझ गई। उसके कपोल पर क्रोध के कारण लाली दौड़ आई, वे फड़कने लगे, तथा उसकी वाणी रोष व प्रेम से गद्गद हो गई। उस मानिनी ने आँसू गिराते हुए 'अहो, बड़ा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है, (अथवा, अहो बड़ा सुन्दर चित्र है) यह कहकर, ब्रह्मास्त्र के समान अपने बायें चरण को क्रोध से मेरे सिर पर डाल दिया।

अथामर्षः—

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १८ ॥

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥'

अथ गर्वः—

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥ १९ ॥

यथा वीरचरिते—

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।

(अमर्ष)

तिरष्कार, अपमान आदि को न सह सकना अमर्ष कहलाता है। इसमें स्वेद, सिर को हिलाना, तर्जन, ताड़न आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

जैसे महावीरचरित में—

आप जैसे पूज्यों का उल्लङ्घन करने के कारण मैं प्रायश्चित करूँगा। शस्त्र ग्रहण करने की महती प्रतिज्ञा को मैं यों ही दूषित न करूँगा।

अथवा जैसे वेणीसंहार की भीमसेन की निम्न उक्ति में—

भीमसेन युधिष्ठिर के पास सहदेव के द्वारा यह बात कहला रहा है :—'आप की आज्ञा के उल्लङ्घन न करने के कारण मैं अब तक आपकी आज्ञा के लङ्घन रूपी जल में मग्न रहा; अब तक मैंने आपकी आज्ञा का लङ्घन न किया और इसीलिए आपकी आज्ञा में स्थित दूसरे छोटे भाइयों के बीच मैंने (भी) निन्दा व तिरस्कार प्राप्त किया। पर आज तो मैं कौरवों से सारा बदला चुका लेना चाहता हूँ। इसलिए खून से रंगी गदा को क्रोध से घुमाते हुए तथा कौरवों का नाश करते हुए मेरे, सिर्फ एक दिन के लिए, खाली आज भर के लिए, न तो आप बड़े भाई ही हैं, और न मैं आप का आज्ञाकारी सेवक (विधेय) ही।'

(गर्व)

तपसि वितितकीर्तेर्दर्पकण्डूयनोष्णः
　　परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥'

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञानत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥ २० ॥

यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहत-
　　शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावण-
　　मा· ! ज्ञात, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥'

यह मुनि परशुराम इतने वीर हैं, तो यह मेरे लिए अच्छी बात है, मुझे प्यारी लग रही है। लेकिन सीते, तुम क्षत्रिया हो, इसलिए यह दीनता व कम्प ठीक नहीं, इस कम्प को रोक लो। तपस्या में यश प्राप्त करने वाले, तथा घमण्ड से जिसके हाथों में खुजली चल रही है, ऐसे व्यक्ति की परिचर्या करने में मैं-क्षत्रिय राम-भलीभाँति समर्थ हूं।

अथवा वहीं वीरचरित नाटक में ही परशुराम के द्वारा रावण को भेजे गये निम्न सन्देश में—

ब्राह्मणों के प्रति अपराध करने को छोड़ देना, तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। जमदग्नि का पुत्र परशुराम तुम्हारा मित्र है। यदि तुम ब्राह्मणों का अतिक्रम करना नहीं छोड़ते, तो वह बड़ा क्रोधी है।

(स्मृति)

जब किसी समान पदार्थ के ज्ञान या उसकी चिन्ता आदि कारणों से, जिस वस्तु का ज्ञान हम पहले कर चुके हैं उस पूर्वानुभव का संस्कार मन में उद्बुद्ध होता है, तो इसी को स्मृति कहते हैं। स्मृति में हम पहले ज्ञात किसी वस्तु का ज्ञान फिर से प्राप्त करते हैं; स्मृति पूर्वज्ञान के द्वारा अपने ज्ञेय पदार्थ या प्रमेय को याद दिलाती है। इसके अनुभाव, भौंहों का ऊँचा करना आदि हैं।

जैसे, सीता को रथ से भगाकर ले जाता हुआ रावण किसी विशाल शरीर को उसके मार्ग का अवरोध करते देखता है। इसे देखकर वह सोच रहा है—क्या मेरे अप्रतिहत मार्ग को, आकाश में, यह मैनाक रोक रहा है। पर मैनाक में मेरे मार्ग को रोकने की ताकत कहाँ से आई, वह तो इन्द्र के वज्रपात से भी डरा हुआ है, डरकर समुद्र में छिपा है। यह गरुड़ भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने स्वामी विष्णु के साथ मुझ रावण को खूब जानता है। गरुड़ ही नहीं, गरुड़ का स्वामी विष्णु भी मेरे बल को खूब जानता है, इसलिए मेरे रास्ते को रोकने की हरकत गरुड़ भी कभी नहीं करेगा। (तो फिर यह कौन हो सकता है।) आहा, पता चल गया, यह तो बूढ़ा जटायु है, जो मेरे हाथों अपनी मौत को बुला रहा है।

यथा वा मालतीमाधवे—'**माधवः**—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥'

अथ मरणम्—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम्।

अथवा मालतीमाधव की निम्न उक्ति में—

माधव—प्राक्तन ज्ञान के साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार के बार-बार प्रबुद्ध होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा जिससे भिन्न दूसरे ज्ञानानुभवों के द्वारा जिसकी धारा को रोका नहीं गया है, ऐसी प्रियतमा स्मृति रूप ज्ञान की परम्परा मेरी समस्त आत्मा को जैसे मालती की वृत्ति में ही परिणत कर रही है। मालती को एकाग्रचित्त होकर स्मृतिपथगत बनाते हुए मेरा चित्त जैसे मालतीमय हो गया है—ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मालती मेरे मन में घुल-मिल गई हो, अथवा जैसे वह मन में प्रतिबिम्बित हो गई हो, अथवा मन के चित्रफलक पर चित्रित हो गई हो, या किसी शिल्पकार ने इस मन में टङ्कण के द्वारा उसकी मूर्ति को खोद दिया (उत्कीर्ण कर दिया) हो। अथवा वह इसमें जड़ दी गई हो, या फिर जैसे वज्रसार (चूने आदि के मजबूत लेप) के द्वारा उसकी मूर्ति को मन में ही चुन दिया गया हो, अथवा जैसे मन में खोद दी गई हो। मालती हमारे चित्त में इसी तरह बैठ गई है मानो कामदेव के पाँच बाणों ने हमारे चित्त में उसे कील दिया है, अथवा चिन्ता (बार-बार उसका विचार करने) की परम्परा रूपी धागों के जाल के द्वारा उसे मन में सघन रूप से सी दिया है, मानों चिन्ता के धागों ने उसे मन में अनुस्यूत कर दिया है।

संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररी सास्रं सखीभ्यः शिशो-
माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् ।

अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥'

यथा मदः—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥ २१ ॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥'

इत्यादि ।

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

पाली हुई कुररी पक्षिणी को एक दम सखियों को सौंप दिया, और छोटी सी माधवी लता का करुणाभरा विवाह आम के पेड़ के साथ कर दिया ।

शृङ्गार के आलम्बन में कभी भी मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए । वहाँ केवल मरण की तैयारी भर का संकेत किया जा सकता है । ऊपर के पद्य के वर्णन की तरह शृङ्गार में मरण का व्यवसायमात्र ही निबद्ध करना चाहिए ।

दूसरे रसों में मरण का यथेच्छ वर्णन हो सकता है, जैसे वीरचरित में—

'आप लोग ताटका को देखें—यह ताडका तो मर ही गई है । इसके हृदय के मर्म का भेदन करने वाले, राम के तेज कङ्कपत्र (बाण) ने वेग के साथ ही साथ उसी क्षण इसके अङ्गों का भङ्ग कर दिया है, और इसके दोनों नाक के नथुनों (नाक की दो गुफाओं) से समान रूप से बुद्बुदों से युक्त, बुद्बुद शब्द करता हुआ रक्तप्रवाह निकल रहा है ।

(मद)

मद्यपान से उत्पन्न हर्ष को मद कहते हैं । इसमें अङ्ग, वचन व गति स्खलित होने लगती है, अङ्ग, वाणी व चाल लड़खड़ाने लगती है, यह मद तीन तरह का होता है, ज्येष्ठ, मध्य तथा अधम जिनमें क्रमशः निद्रा, हास तथा रुदन ये अनुभाव पाये जाते हैं ।

जैसे माघ के दशम सर्ग में—

अत्यधिक उत्कट मद ने मुग्धा नायिका में हावभाव से मनोहर हँसी, वचनों के कौशल, आँखों में विकार (वक्रदृष्टिपात) को ठीक उसी तरह उत्पन्न कर दिया, जैसे तरुण नायक ने मुग्धा में भी इन भावों को उत्पन्न कर दिया है । जब शराब के नशे में मुग्धा नायिकाओं की ही यह दशा थी, तो फिर मदमस्त प्रौढा नायिकाओं की हावपूर्ण हँसी, वचनभङ्गी तथा तिरछी दृष्टि से देखने की बात तो क्या कहें ।

(सुप्त)

निद्रा के कारण जनित स्थिति को 'सुप्त' कहते हैं । इसके अनुभाव श्वास तथा उच्छ्वास की क्रिया है ।

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुषारः ॥'

अथ निद्रा—

मनस्संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २

यथा—

'निद्रार्धनिमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥'

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।

जौ के खेत के एक कोने पर बनी घास छोटी झोंपड़ी में, नये पुआल के बिछौने पर, जिस पर (पुआल का ही) तकिया लगा है, सोये हुए कृपकदम्पति को, कृपकसुन्दरी के कुचकलश की गर्मी के कारण वहाँ लगी हुई ठंडक जगा रहा है। वायु में तुपार (शीतलता) है, कृपकरमणी के स्तनकलशों की गर्मी से वह ठंडक प्रतीत होता है, और उस ठण्डक का अनुभव करते ही कृपक-दम्पति जग जाते हैं ।

(निद्रा)

चिन्ता, आलस्य, परिश्रम आदि कारणों से मन का सम्मीलन निद्रा कहलाता है। इसके अनुभाव हैं, जँभाई लेना, अङ्गों का बल खाना, आँखों का मींच लेना, सोना आदि।

जैसे निम्न पद्य में नायिका की निद्राजनित अवस्था का वर्णन है ।

उस हिरन के समान नेत्र वाली सुन्दरी के वे मधुर अक्षर, जो नींद के कारण आँखों के आधे वन्द होने के कारण, मद से मन्थर-मन्थर धीमे-धीमे रूप में उच्चारित किये गये, और जिन्हें न तो सार्थक ही कहा जा सकता है, न निरर्थक ही—आज भी मेरे हृदय में कुछ ध्वनि कर रहे हैं ।

और जैसे माघ के एकादश सर्ग के इस वर्णन में—

किसी पहरेदार ने अपना पहरा जगकर पूरा कर दिया है। अब अपने पहरे को समाप्त कर वह सोना चाहता है, और इसीलिये वार-बार दूसरे व्यक्ति को (जिसका पहरा आने वाला है)

---

१. 'उच्छ्वसनादयः' इति पाठान्तरम् ।

मुहुरविपदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददद्पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥'

अथ विबोधः—

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

अथ व्रीडा—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

यथाऽमरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।

'उठो, उठो' इस तरह पुकार रहा है। वह आदमी नींद से अस्पष्ट वर्ण वाली शून्य वाणी में उत्तर तो दे रहा है, पर जग नहीं रहा है।

(विबोध)

परिणाम अर्थात् अवस्था के परिवर्तन आदि के कारण विबोध उत्पन्न होता है, नींद की अवस्था के चले जाने पर विबोध होता है। इसके अनुभाव, जँभाई लेना, तथा आँखें मसलना है।

जैसे माघ के एकादश सर्ग के ही इस वर्णन में—

तरुण तथा तरुणियों ने रात को बड़ी देर तक सुरतक्रीडा की। इस लम्बी सुरतक्रीडा के कारण थककर तरुण तथा तरुणियों दोनों ने नींद के सुख को प्राप्त किया। सुरतक्रीडा की थकावट के कारण नींद के सुख में डूबे प्रियतमों के पहले ही अच्छी तरह सोकर जगी हुई सुन्दर युवतियाँ अपने शरीर को नहीं हिलातीं डुलातीं, तथा अपने बाहुओं के गाढ परिरम्भण को नहीं छोड़तीं। उन्हें एक तो इस बात का डर है कि कहीं प्रिय की निद्रा में बाधा न पड़े, साथ ही प्रेम के कारण वे प्रिय के आलिंगन को भी नहीं छोड़ना चाहतीं।

(व्रीडा)

स्वकृत बुरे आचरणों के कारण व्रीडा उत्पन्न होती है। धृष्टता का समाप्त होना व्रीडा को उत्पन्न करता है। टेढ़ा मुँह करके अङ्गों को छिपाना, मुँह के रङ्ग का फीका पड़ना, नीचा मुँह कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं।

जैसे अमरुकशतक के निम्न पद्य में—

कोई नई पत्नी पति के समीपस्थ होने पर बड़ी लज्जित हो रही है। इसी का एक चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है। पति उसे बिठाने के लिए या आलिङ्गन करने के लिए उसके आँचल को पकड़ लेता है, इसे देखकर वह झुककर अपने मुँह को नीचा कर लेती है। जब पति जबरदस्ती

न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥'

अथापस्मारः—

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः (धि) ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥ २५ ॥

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥'

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥'

उसका आलिङ्गन करना चाहता है, तो वह चुपके से अङ्गों को हटा लेती है। अपनी सखियों को हँसते देखकर वह उनके मुँह की ओर दृष्टि डालती है, पर लाज के मारे कुछ कह नहीं पाती। इस तरह नई पत्नी के साथ पहले पहल परिहास किया जाता है, तो वह लज्जा के कारण मन ही मन परेशान रहती है।

(अपस्मार)

प्रारब्धवश ग्रहजनित दुःख आदि के कारण जो आवेश आ जाता है, उसे अपस्मार कहते हैं। जमीन पर गिर पड़ना, काँपना, पसीना आ जाना, मुँह में लाला और फेन का भर जाना, आदि अपस्मार के अनुभाव हैं।

जैसे माघ के तृतीय सर्ग में—

कृष्ण ने भूमि का आलिङ्गन करते हुए (पृथ्वी पर गिरे हुए), भुजाओं के समान बड़ी-बड़ी चञ्चल तरङ्गों वाले (चञ्चल भुजाओं वाले), जोर से शब्द करते हुए (चिल्लाते हुए), फेनयुक्त (जिसके मुँह से झाग निकल रहे हैं), समुद्र (नदियों के पति) को अपस्मार रोग से पीड़ित समझा।

(मोह)

भय, दुःख का आवेश तथा चिन्ता के कारण चित्त का अस्त-व्यस्त हो जाना मोह कहलाता है। इसमें अज्ञान, भ्रम, चोट का लग जाना, सिर का चकराना, दिखाई न देना आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

जैसे कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में—

समस्त इन्द्रियों की वृत्ति को स्तब्ध कर देने वाले, तीव्र पराभव से जनित मोह के द्वारा क्षण भर के लिए रति का उपकार ही किया गया, क्योंकि मोह के कारण वह अपने पति कामदेव की मृत्यु के बारे में कुछ न जान सकी।

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥'

अथ मतिः—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥'

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥'

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥ २७ ॥

अथवा, जैसे उत्तररामचरित में—(राम सीता से कह रहे हैं :—)

'मैं यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि यह सुख है या दुःख है। अथवा यह मोह है, या निद्रा, या फिर जहर का असर है या नशा। तेरे प्रत्येक स्पर्श में कोई ऐसा विकार मेरे अन्तःकरण को स्तब्ध कर देता है, तथा ताप पैदा करता है, जिसके प्रभाव से मेरी सारी इन्द्रियाँ मन्द पड़ जाती हैं।'

(मति)

शास्त्र आदि में भ्रान्ति के हट जाने तथा उपदेश के कारण जो तत्त्वज्ञान की बुद्धि होती है, उसे मति कहते हैं।

जैसे किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में—(युधिष्ठिर कहते हैं :—)

किसी भी काम को बिना सोचे समझे एकदम नहीं करना चाहिए। बुद्धिहीनता, ज्ञान का अभाव, परम आपत्तियों का कारण है। सोच-विचार कर काम करने वाले व्यक्ति के गुणों से आकृष्ट होकर सम्पत्ति खुद ही उसका वरण करती है।

और जैसे,

बुद्धिमान् तथा विद्वान् व्यक्ति साहसी (किसी भी काम को एकदम कर लेने वाले) नहीं होते। किसी बात को सुन लेने पर भी वे उसके तत्त्व की आलोचना करते हैं। तत्त्व के ग्रहण करने के बाद ही वे स्वार्थसम्बन्धी या परार्थसम्बन्धी कार्य का व्यवहार रूप में आचरण करते हैं।

(आलस्य)

परिश्रम, गर्भ आदि के द्वारा जनित जाड्य को आलस्य कहते हैं। जँभाई लेना, एक जगह बैठा रहना आदि इसके अनुभाव हैं।

यथा ममैव—

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ॥'

अथावेगः—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो[1]
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।
उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥

अभिसरो राजविद्रवादिः तद्धेतुरावेगो यथा ममैव—

'आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीच्छन्
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥'

जैसे धनिक की स्वनिर्मित निम्न आर्या में—

गर्भ के अति भार के कारण अलसाई हुई सुन्दरी किसी तरह चलती अवश्य है, तथा सखियों के पूछने पर किसी तरह उत्तर भी अवश्य देती है; पर सच पूछो तो वह एक जगह पर ही बैठी रहना चाहती है।

(आवेग)

युद्धादि के डर से राजाओं का भागना, झंझावात, जोर की वर्षा, उत्पात, अग्नि, हाथी आदि के द्वारा जनित ध्वंस से लोगों में जो संभ्रम या हड़बड़ी पाई जाती है, उसे आवेग नामक सञ्चारी भाव कहते हैं। अभिसार या राजविद्रवादि जनित आवेग में शस्त्र, हाथी आदि का सम्मर्द पाया जाता है। झंझावातजनित आवेग में लोग धूलिधूसरित होते हैं तथा उनकी चाल बड़ी तेज होती है। जोर की वर्षा से उत्पन्न आवेग में अङ्ग-प्रत्यङ्ग सङ्कुचित रहते हैं। उत्पातजनित आवेग में अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। यदि आवेग शत्रुजनित (शत्रुकृत) है तो शोक, तथा वह सुहृत्कृत है तो हर्ष अनुभाव पाया जाता है। अग्निजनित आवेग में मुँह का धुएँ से व्याकुल चित्रित करना आवश्यक है। तथा हस्तिजनित आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प तथा भगदड़—ये अनुभाव पाये जाते हैं।

वृत्तिकार इन्हीं विभिन्न कारणों से जनित आवेगों के उदाहरण क्रमशः उपस्थित करते हैं। पहले पहल अभिसर या राजविद्रवादि जनित आवेग के उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित पद्य देते हैं :—

हे राजन्, तुम्हारे डर से (या तुमसे हार कर) गहन पर्वत में भगे हुए तुम्हारे शत्रु कभी कभी सोते समय स्वप्न में तुम्हें देख लेते हैं। जब वे तुम्हें स्वप्न में देखते हैं, तो एकदम हड़बड़ा कर जग जाते हैं और चञ्चल नेत्रों से एक दूसरे को देखते हुए इस तरह कहा करते हैं। 'आओ,

---

१. 'मायाभियोगो' इति पाठान्तरम् ।

इत्यादि ।

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ॥'

यथा वा—

'प्रारब्धा तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजबृसीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ।'

वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-
र्गेहाद्गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥'

इधर आओ, मेरे श्रेष्ठ घोडे को सजाओ, जल्दी करो, मेरा खड्ग कहाँ है, कटार ('छुरी') ले आओ, धनुष से क्या होगा, अरे क्या (शत्रु राजा नगर में) घुस आया है ।'

'कवच, कवच; शस्त्र, शस्त्र; रथ, रथ' इस प्रकार की योद्धाओं की उत्कट उक्तियाँ चारों तरफ सुनाई देती थीं ।' यहाँ युद्धस्थल में भटों की आवेगदशा का वर्णन है ।

अथवा जैसे,

पुत्रों के समान स्नेह से पाले गये वृक्षों की सेकक्रिया को एकदम छोड कर ये तपस्वी कन्याएँ 'यह क्या हो गया' इस प्रकार व्याकुल होकर देख रही हैं । ब्रह्मचारी शिष्य उटज के वृक्षों पर चढ कर देख रहे हैं, तथा महर्षि लोग अपनी समाधि को एक दम छोड कर अपने आसन पर ही बिना बोले (मौन धारण किए हुए) भी पैरों को ऊँचा करके खडे हो रहे हैं ।

(किसी राजा की सेना, या आततायियों का समूह आश्रम के समीप आया है । उसके कारण सारी आश्रम-शान्ति भङ्ग हो गई है । इसी सम्भ्रम से जनित आवेग का उदाहरण है ।)

वातजनित आवेग जैसे 'हवा के तेज झोंके से वस्त्र तथा उत्तरीय चञ्चल (व्याकुल) हो रहा है ।'

वृष्टिजनित आवेग जैसे—

चारों ओर बडे जोरों से बारिश हो रही है । घर की स्त्रियाँ भोजन बनाने में व्यस्त हैं, पर अग्नि के लिए वे एक घर से दूसरे घर लकडी के तख्तों से पटे हुए सेतुओं (पुलों) के द्वारा जाती हैं । इन पुलों पर चढ कर वे इसलिए जाती हैं कि कहीं कीचड़ में न सन जायँ । वे निरन्तर पनी जल वाले पटलप्रान्तों को हाथों से पीटती हुईं, सूप के छत्र से अपना सिर ढँक कर भोजन बनाने के लिए आग लेने घर-घर घूम रही हैं ।

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः॥'

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमायः (ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायताम्। (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि। पुनः 'चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम्॥

रामः—

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद्गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः॥'

इत्यन्तेनानिष्टाप्राप्तिकृतसम्भ्रमः।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः—महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' (महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष—')

उत्पातजनित आवेग, जैसे—

पुलस्त्य के पौत्र रावण की पुष्ट भुजाओं से कैलास के उठाए जाने पर डरी हुई पार्वती के नेत्र चञ्चल हो उठते हैं। उनका क्रोध कम पड़ जाता है, तथा शिव के प्रति उत्पन्न प्रणयकोप के चिह्न छिप जाते हैं। वे भय तथा सम्भ्रम से महादेव का आलिङ्गन कर लेती हैं, जिसके कारण महादेव (इन्दुमौलि) का शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। महादेव का यह पार्वती-आलिङ्गनजनित पुलक आप लोगों को कल्याण प्रदान करे।

अहितकृत आवेग अनिष्ट वस्तु के दर्शन या श्रवण से होता है, जैसे उदात्तराघव नाटक में—

'चित्रमाय (सम्भ्रम के साथ)—भगवान् रामचन्द्र, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

(आकुलता का अभिनय करता है)

हिरन के रूप को छोड़ कर तथा विकट शरीर को धारण कर, यह राक्षस युद्ध में लक्ष्मण को संशय से युक्त (उसके जीवन को सन्देहमय) बना रहा है।

राम—निर्भयता के समुद्र वत्स लक्ष्मण को राक्षस से भय हो यह मैं कैसे मान लूँ। और यह मुनि (चित्रमाय) डर कर लक्ष्मण को बचाने के लिए चिल्ला रहा है, तो इसे भी झूठ कैसे मान लिया जाय। मेरे मन में भी संभ्रम है ही। गुरु ने स्नेह से यह उपदेश दिया था कि 'सीता को अकेली कभी मत छोड़ना'। इन सारी बातों को सोच कर मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ तथा मेरी बुद्धि व्याकुल हो गई है। मैं न तो ठहरने के ही न लक्ष्मण की सहायता करने जाने के ही बारे में निश्चय कर पा रहा हूँ।

इष्टकृत संभ्रम, जैसे उदात्तराघव नाटक में ही यवनिका को हटाकर प्रविष्ट व्याकुल वानर

विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥'

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥'

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थं, तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः सन्देहाद्भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

यथा—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥'

को क्यों फैला रहे हो । अरे, जब मुझे प्रिया के विरह की अग्नि ही न जला पाई, तो फिर प्रलय-काल की अग्नि के समान तेज से तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे ?

करिज आवेग जैसे रघुवंश में—

उस हाथी ने अपने सारे बन्धन तेजी के साथ तोड़ दिये, वह शृङ्खला से शून्य था । उसने एक ही क्षण में सेना के रथों की धुरी को तोड़कर छिन्न-भिन्न कर दिया । हाथी के भय से डरी स्त्रियों को बचाने के लिए सारे योद्धा जुट गये थे, तथा सारे सेनानिवेश में भीषण व्याकुलता व कोलाहल का सञ्चार हो गया था ।

कारिका के 'करिज आवेग' के 'करि' शब्द से सारे ही पशुओं का उपलक्षण हो जाता है । इसलिये व्याघ्र, शूकर, वानर आदि के भय से उत्पन्न आवेग की भी व्याख्या हो जाती है । कोई पूर्वपक्षी यह शङ्का करे कि आवेग अन्य पशुओं के कारण भी हो सकता है, तो उसी का उत्तर देते हुए वृत्तिकार ने इसे स्पष्ट किया है ।

(वितर्क)

सन्देह के कारण जनित विचार को तर्क कहते हैं । इसमें भौंहें, सिर व अंगुलियों की चञ्चलता पाई जाती है, ये इसके अनुभाव हैं ।

अथवा।

'कः समुचिताभिषेकादार्यं प्रच्यावयेद्गुणज्येष्ठम्।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना॥'

अथावहित्था—

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्तावहित्थाङ्गविक्रिया।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥'

अथ व्याधिः—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः॥ २९॥

दिङ्मात्रं तु यथा—

'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।

अथवा, राम-वनवास को सुनकर लक्ष्मण के तर्क का दूसरा उदाहरण—

समस्त गुणों से उत्कृष्ट पूज्य रामचन्द्र को उनके योग्य अभिषेक से कौन च्युत कर सकता है? मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे ही पुण्यों के कारण विधाता ने मुझे रामचन्द्र की सेवा करने का अवसर दिया है।

अद्य श्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥'

अथोन्मादः—

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।
अस्मिन्नवस्था[1] रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

यथा—'आः ! क्षुद्रराक्षस ! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे 'कथम्—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥' इत्यादि ।

अथ विषादः—

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके ? किं हि नामैतत् अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नायिका की मरणासन्न अवस्था देखकर बान्धव रो रहे हैं, बड़े-बूढ़े चिन्तित हैं, नौकर परेशान हैं, तथा सखियाँ विह्वल हैं । वह आज या कल परम शान्ति को प्राप्त होने वाली है, केवल साँस ही उसे परेशान कर रहे हैं; उसके बाकी सारे दुःख मिट गये हैं । इसलिए उसके विषय में कोई भी सोचने की बात नहीं है, उसके बारे में तुम निश्चिन्त रहो, उसको कोई दुःख नहीं, क्योंकि दूसरे लोगों ने उसके दुःख को बँटा लिया है । तुम्हारे वियोग में दुखी नायिका कुछ ही समय की मेहमान है, यह व्यंग्य है ।

(उन्माद)

त्रिदोषजन्य सन्निपात, ग्रह आदि कारणों से बुद्धि का अस्त-व्यस्त हो जाना तथा विवेकहीन कार्य करना उन्माद कहलाता है । इसमें रोना, गाना, हँसना, बैठ जाना, गिर पड़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ।

जैसे विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के अन्तर्धान से विरहित पुरूरवा की इस उन्मादोक्ति में—

'अरे नीच राक्षस, ठहर, ठहर । मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है । क्या ? यह तो पानी के भार से झुका हुआ नया बादल है, यह ढीठ राक्षस नहीं है । यह तो दूर तक फैला हुआ इन्द्रधनुष है, उस राक्षस का धनुष नहीं है । और यह भी तेज बारिश की बूँदें हैं, बाणों की वर्षा नहीं है । जिसे मैं उर्वशी समझ रहा हूँ, वह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, किन्तु सुवर्ण की कसौटी की रेख के समान चिकनी व सुन्दर बिजली है ।'

(विषाद)

आरम्भ किये हुए कार्य के पूरे न होने पर व्यक्ति का सत्त्व, बल, मन्द पड़ जाता या नष्ट हो जाता है । इसी 'सत्त्वसंक्षय' को विषाद कहते हैं । इसके अनुभाव हैं :—निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय में ताप होना, सहाय को ढूँढना आदि ।

---

१. 'स्थान०' इति पा० ।

मन्येष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः

प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात्

दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो

दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥'

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।

तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ ३२ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।

हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥'

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादनिनयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।

जैसे वीरचरित में राक्षसपति रावण का विषाद—

हा, पूज्ये ताटके ! यह क्या आश्चर्य है कि समुद्र के पानी में लौकियाँ डूब रही हैं, पर पत्थर तैर रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि राक्षसों के स्वामी रावण का प्रताप मन्द पड़ गया है। तभी तो इस मनुष्य के बच्चे से उसकी हार हो रही है। मैंने जीवित रहते हुए बान्धवों का नाश खुद अपनी आँखों से देखा है। दीनता और वृद्धावस्था दोनों ने मुझे (मेरी शक्ति को) रोक दिया है, मैं अब क्या करूँ।

(औत्सुक्य)

किसी मनोहर अभिलाषा, सुरत या सम्भ्रम के कारण समय को न सह सकना उत्सुकता (औत्सुक्य) कहलाता है। उच्छ्वास, त्वरा, श्वास, हृत्ताप, पसीना, भ्रम ये अनुभाव औत्सुक्य में पाये जाते हैं।

जैसे कुमारसम्भव में—

तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३२ ॥

यथा विकटनितम्बायाः—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥'

यथा वा—

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

जैसे विकटनितम्बा के इस पद्य में जहाँ भ्रमर की चञ्चलता का वर्णन किया गया है ।

हे भँवरे, तुम कहीं दूसरी पुष्पलताओं पर जाकर अपने चञ्चल मन को बहलाओ जो तुम्हारे बोझे तथा मर्दन को सह सकें । अरे मूर्ख, इस नवमल्लिका की कोमल (बाला) कली को, जिसमें अभी पराग भी उत्पन्न नहीं हुआ है, व्यर्थ ही क्यों बिगाड़ रहे हो । अरे अभी तो इसके विकास का समय भी नहीं आया ।

अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा किसी रागी नायक को जो अप्राप्तयौवना बाला नायिका को ही भोगना चाहता है, कवयित्री सचेत कर रही है । अरे तुम कहीं प्रौढ़ नायिकाओं के साथ जाकर विहार करो, इस भोली-भाली बाला को, जो अभी ऋतुधर्म से भी युक्त नहीं हुई, क्यों नष्ट करना चाहते हो ।[1]

अथवा, रावण की निम्न उक्ति में—

बार-बार पीसने के कारण शब्द करती हुई कठोर डाढ़ों की करवत से भीषण कन्दरा वाले, मेरे सारे मुँह, गुस्से से, अहमहमिका (पहले मैं खाऊँ, पहले मैं खाऊँ) के साथ एक साथ ही यहाँ इस वानरसेना पर गिर पड़ें । अथवा अवसर के अनुरूप कार्य को ठीक तरह से करूँगा ।

पूर्वपक्षी इस विषय में यह शङ्का कर सकता है कि चित्तवृत्ति के तो कई प्रकार पाये जाते हैं, जिनमें से कई का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस बात से हम सहमत हैं कि दशरूपककार के द्वारा निर्दिष्ट चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त चित्तवृत्तियाँ भी लोकव्यवहार में पाई जाती हैं, पर वे सब इन्हीं के अन्तर्गत होकर विभाव या अनुभाव के रूप में प्रविष्ट होती हैं, इसलिए उनका अलग से उल्लेख करना ठीक नहीं समझा गया है ।

(इस सम्बन्ध में यह निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा कि भरतसम्मत ३३ सञ्चारियों को ही सभी आचार्यों ने माना है । केवल भानुमिश्र ने 'रसतरङ्गिणी' में 'छल' नामक ३४ वें सञ्चारी की कल्पना की है । इन्हीं के आधार पर हिन्दी के रीतिकालीन कवि व आलङ्कारिक देव ने भी 'छल' का अलग से उल्लेख किया है । पर ऐसा करने पर तो सञ्चारियों की संख्या में

---

१. मिलाइये—बिहारी का प्रसिद्ध दोहा—(जो इसी पद्य की छाया है)

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल ॥ (बिहारीसतसई)

अथ स्थायी—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जुकायामनुरागः तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः- 'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः, प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

यथा—'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्य डोलाइअं हिअअम् ॥'
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयोः, यथा वा—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥'

इत्यादौ रतिशमयोः, यथा च—

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

हों, वहाँ भी अविरोध ही रहेगा । इसीलिए वह उत्तरपक्षी से पूछना चाहता है कि अनेक भावों के समाधान रहने पर उनका सम्बन्ध अविरोधी कैसे रहेगा ? इसको स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष के मत की पुष्टि में ६ पद्य दिए हैं, जहाँ पूर्वपक्षी के मत से कई परस्पर विरोधी भावों का समप्राधान्य उपनिबद्ध किया गया है ।

१. युद्ध में जाते हुए प्रिय के वियोग की आशङ्का से एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की तूर्य-ध्वनि सुनाई दे रही है । प्रिया के अनुराग के कारण वीर योद्धा का हृदय यह चाहता है कि वह यहीं रहे, लड़ने न जाय; पर दूसरी ओर युद्ध का उत्साह उसे रणभूमि में जाने को बाध्य कर रहा है । इस तरह योद्धा का हृदय प्रियानुराग तथा युद्धोत्साह से दोलायित हो रहा है ।

-चारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्-प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्, आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽऽशस्तं भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः, स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी।

यथा—'अएणहुणाहुमहेलिअहुजुहुपरिमलुमुमुअन्धु।
मुहुकन्वह अगत्थणहुअङ्ग ण फिट्टइ गन्धु॥'
(नितान्तास्फुटत्वादस्य श्लोकस्य छाया न लिख्यते।)

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्ध'। प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

यथा—'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्य डोलाइअं हिअअम् ॥'
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयोः, यथा वा—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥'

इत्यादौ रतिशमयोः, यथा च—

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत्।

हों, वहाँ भी अविरोध ही रहेगा। इसीलिए वह उत्तरपक्षी से पूछना चाहता है कि अनेक भावों के समाधान रहने पर उनका सम्बन्ध अविरोधी कैसे रहेगा? इसको स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष के मत की पुष्टि में ६ पद्य दिए हैं, जहाँ पूर्वपक्षी के मत से कई परस्पर विरोधी भावों का समप्राधान्य उपनिबद्ध किया गया है।

१. युद्ध में जाते हुए प्रिय के वियोग की आशङ्का से एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की तूर्य-ध्वनि सुनाई दे रही है। प्रिया के अनुराग के कारण वीर योद्धा का हृदय यह चाहता है कि वह यहीं रहे, लड़ने न जाय; पर दूसरी ओर युद्ध का उत्साह उसे रणभूमि में जाने को बाध्य कर रहा है। इस तरह योद्धा का हृदय प्रियानुराग तथा युद्धोत्साह से दोलायित हो रहा है।

इस गाथा में एक ओर योद्धा के हृदय में रति नामक स्थायी भाव का चित्रण किया गया है, तो दूसरी ओर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का भी समावेश पाया जाता है। ऐसी दशा में एक ही आश्रय में दो भावों का समान रूप से चित्रण किया गया है। प्रिया के प्रति जनित रति तथा युद्ध के प्रति जनित उत्साह दोनों इस गाथा में समान रूप से प्रधान हैं, कोई भी दूसरे का अङ्ग नहीं है। यहाँ इनमें परस्पर विरोध कैसे न होगा?

२. हे महानुभावो! मात्सर्य को छोड़कर तथा अच्छी तरह विचार कर मर्यादापूर्वक इस बात पर अपना निर्णय दीजिये कि लोगों को पर्वतों की तलहटियों का सेवन करना चाहिए या कामदेव की लीलाओं से रमणीय विलासिनियों के नितम्बों का।

यहाँ 'पर्वतों की तलहटियों के सेवन' के द्वारा शम या निर्वेद भाव का तथा 'विलासिनियों के नितम्बों के सेवन' के द्वारा रति भाव का उपनिबन्धन किया गया है। ऐसी दशा में रति भाव तथा शम भाव दोनों का समप्राधान्य स्पष्ट है। यहाँ भी उनमें अविरोध कैसे होगा?

किसी नाटक में रावण की उक्ति है :—

३. जब रावण सीता का अपहरण करने आया है, तो सीता तथा लक्ष्मण को देखकर वह सोच रहा है। 'एक ओर तो समस्त संसार की सुन्दरता का खजाना—यह चञ्चल आँखों वाली सुन्दरी है; और दूसरी ओर यह वही दुष्ट व्यक्ति मौजूद है, जिसने मेरी बहिन का अपकार

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥'

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः,

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
न्यस्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुरा कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥'

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः,

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।

अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥'

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः ?

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—'एक्कत्तो रुअइ पिआ' इत्यादौ

समय महादेव के तीनों नेत्रों में तीन भिन्न-भिन्न रसों की स्थिति हो रही है। महादेव के ये तीनों नेत्र आप लोगों की रक्षा करें।

यहाँ एक ही आश्रय—महादेव—में एक साथ शम (समाधिविषयक), रति (पार्वतीविषयक), तथा क्रोध (कामविषयक) इन तीन भावों का निबन्धन समप्रधान रूप में हुआ है। यहाँ भी शम, रति तथा क्रोध में परस्पर कोई विरोध नहीं है यह कैसे माना जा सकता है, क्योंकि इन तीनों में वस्तुतः विरोध माना जाता है।

६. सूर्य अस्ताचल का चुम्बन करने जा रहा है। दिनान्त को समीप जानकर चक्रवाकी समझ लेती है कि अब उसका अपने प्रिय से वियोग होने वाला है। वह इस वियोग का एकमात्र कारण सूर्य को ही समझती है। कहीं यह सूर्य कुछ देर और रुक जाता, इसे अस्त होने की जल्दी क्यों पड़ी है, आखिर यह मुझे प्रिय से वियुक्त करना क्यों चाहता है। चक्रवाकी क्रोध से भरे हुए एक नेत्र से आकाशस्थित सूर्य-मण्डल की ओर,—जो अस्त होने को है—देख रही है। दूसरे नेत्र में आँसू भर कर वह अपने प्रिय को देख रही है, जो अब रात भर के लिए उससे दूर हो जाने वाला है। इस प्रकार सूर्य के प्रति क्रोध तथा प्रिय के भावी विरह के कारण शोकमिश्रित रति इन दो भावों का सञ्चार एक साथ चक्रवाकी के हृदय में हो रहा है। दिनावसान के समय, प्रिय के विरह की आशङ्का वाली चक्रवाकी एक कुशल नर्तकी के समान दो भिन्न रसों—रौद्र (क्रोध) तथा शृङ्गार (रति) को मिश्रित रूप में एक साथ प्रकट कर रही है। जिस तरह एक कुशल नर्तकी एक साथ ही शरीर के विभिन्न अङ्गों के सञ्चालन के द्वारा भिन्न-भिन्न रसों की व्यञ्जना करने में समर्थ होती है, तथा यह उसकी कला-निपुणता की उत्कृष्टता है, इसी तरह चक्रवाकी भी, शाम के समय, एक साथ एक-एक नेत्र के द्वारा अलग-अलग भाव की व्यञ्जना कर रही है।

इस पद्य में चक्रवाकी को आश्रय बनाकर एक साथ क्रोध (सूर्यविषयक), तथा शोकपूर्ण रति (कान्तविषयक) का समावेश किया गया है। इसीलिये वृत्तिकार का कहना है कि यहाँ रति, शोक तथा क्रोध तीनों का उपनिबन्धन प्रधान रूप से तथा समान रूप से हुआ है।[1] ऐसी दशा में इस पद्य में निबद्ध रति, शोक तथा क्रोध में परस्पर विरोध किस तरह नहीं माना जायगा।

---

१. वस्तुतः इस पद्य में दो ही भावों का समावेश है—रति तथा क्रोध का। शोक को अलग से भाव मानना ठीक न होगा। वह तो भविष्यत् विप्रलम्भ शृङ्गार के स्थायी भाव रति में ही अन्तर्भावित हो जाता है। पद्यकार के 'द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ' से भी यही सिद्ध होता है।

स्थायीभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते, किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम्। अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानाच्छमैकपरत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम् ।

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्कहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव । 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव, 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्यस्यापि योग्यन्तरशमाद्वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता । 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।

से प्रधान हैं, तथा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तो उनका एक ही वाक्य में प्रयोग ठीक नहीं है, ऐसा करना दोष ही होगा । हाँ, एक अङ्गी भाव के उपकारक अङ्गभूत भावों का वर्णन एक ही वाक्य में करना ठीक है । ऐसी दशा में यदि यहाँ दोनों भावों का समप्राधान्य मान लेते हैं तो ऐसा समावेश दोष होगा । वीर पुरुषों का युद्ध के उपस्थित होने पर किसी दूसरे काम में फँस जाना तथा संग्राम के प्रति उदासीन हो जाना बहुत अनुचित है । ऐसी दशा में वीर पुरुष का युद्ध के उपस्थित होने पर भी प्रियानुराग के प्रति महत्त्व देना अनुचित ही माना जायगा । इसलिए प्रिया का करुणविप्रलम्भ एक तरह से वीर योद्धा के संग्रामप्रेम तथा शौर्य को ही प्रकाशित करता है तथा वीररस की पुष्टि करता है । इस तरह स्पष्ट है कि 'एकत्तो रुअइ पिआ' इस गाथा में प्रमुखता वीर रस तथा उत्साह भाव की ही है, प्रियाविषयक विप्रलम्भ (करुणविप्रलम्भ) इसका अङ्ग तथा पोषक भाव है ।

दूसरे उदाहरण 'मात्सर्यमुत्सार्य' आदि पद्य में भी यही दशा है । यहाँ भी दोनों भाव—शम तथा रति—समप्रधान नहीं हैं । यहाँ भी चिरकाल से प्रवृत्त कामवासना तथा रति को तुच्छ तथा नगण्य बताने के कारण शम ही की प्रधानता सिद्ध होती है । कवि यहाँ शम भाव को ही प्रधान मानता है और 'आर्याः समर्यादं' इस पदद्वय के द्वारा उसने साफ बता दिया है कि वह इस बात का निर्णय पर्वत की तलहटियाँ अच्छी हैं, या रमणियों के नितम्ब, पूज्य सम्मान्य व्यक्तियों से ही पूछता है, तथा इसका मर्यादित निर्णय सुनना चाहता है । यह इस बात का प्रकाशन करता है कि यहाँ रति भाव शम भाव का ही पोषक अङ्ग है ।

तीसरा उदाहरण 'इयं सा लोलाक्षी' रावण की उक्ति है । इसमें एक साथ रति तथा क्रोध, इन दो भावों का समावेश किया गया है । पूर्वपक्षी यहाँ इन दोनों भावों का समप्राधान्य मानता है । किन्तु रावण के विषय में यह ठीक नहीं जान पड़ता । रावण पहले तो प्रतिपक्ष नायक है, दूसरे वह राक्षस है, तीसरे मायावी है । इन सब बातों को देखने से यह पता चलता है कि यहाँ का अङ्गी रस रौद्र ही है । रौद्र रस के व्यभिचारी भाव विषाद का, तथा उसके (विषाद के) आलम्बन सीता व लक्ष्मण के विषय में उत्पन्न वितर्क के द्वारा रति तथा क्रोध इन दो भावों का समावेश हुआ है । अतः 'क्या किया जाय, एक ओर तो यह सुन्दरी है, दूसरी ओर यह दुरात्मा, तथा दोनों विभिन्न भावों के आलम्बन हैं' यह वितर्क रौद्र रस की ही पुष्टि करता है । इस तरह रति भाव भी रौद्र रस का ही पोषक है तथा उसीका अङ्ग है । 'इयं सा लोलाक्षी' इस पद्य में क्रोध ही प्रमुख स्थायी भाव है यह स्पष्ट है ।

चौथे उदाहरण में; पिशाचिनियों का वर्णन करते हुए कवि ने एक साथ बीभत्स व शृङ्गार का समावेश 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इस पद्य में किया है । यहाँ भी जुगुप्सा तथा रति

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥'

इत्यादौ। तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। यथा वा श्रूयमाण-रत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः।

ते च—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

जब कृष्ण ने रुक्मिणी को देखा, तो उन्हें पता चला कि वह तो उनसे भी अधिक सुन्दर है, उनके भी शरीर से अधिक है। कृष्ण का तो केवल हाथ ही सुन्दर (सुदर्शनकर) है: (कृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र है), लेकिन रुक्मिणी का समस्त शरीर अतीव प्रशंसनीय तथा रमणीय है। कृष्ण ने संसार को केवल चरणारविन्द की ही सुन्दरता से जीता है; अर्थात् उनका केवल चरण ही ललित है, जो सुन्दरता में संसार की होड कर सके; (कृष्ण ने वामनावतार में चरणकमल के द्वारा सारे लोकों को नाप लिया है); लेकिन रुक्मिणी ने सारे अंगों की शोभा से तीनों लोकों को जीत लिया है। कृष्ण की केवल आँख ही चन्द्रमा के समान है, बाकी सारा मुँह कुरूप है; (कृष्ण परमात्मा के अवतार होने के कारण, उनका वाम नेत्र चन्द्रमा है); लेकिन रुक्मिणी सुन्दर कान्तिवाले मुख-चन्द्र को धारण करती है। इस तरह कृष्ण का केवल हाथ ही सुन्दर है, पाँव ही शोभामय है, तथा आँख ही चन्द्रतुल्य है, जब कि रुक्मिणी का पूरा शरीर सुन्दर है, उसके सारे अंग शोभा से तीनों लोकों को जीत लेते हैं, तथा उसका पूरा मुख चन्द्रमा जैसा है; इसलिए कृष्ण रुक्मिणी को अपने से अधिक पाते हैं। वह रुक्मिणी जो कृष्ण से अधिक सुन्दर तथा उत्कृष्ट है, आप लोगों की रक्षा करे।

इत्यादि उदाहरणों में वाक्यार्थ अनेक पाये जा सकते हैं, पर उनके दो अर्थ होने के कारण अदोष ही मानना होगा।

इस तरह से उपर्युक्त प्रक्रिया से काव्य में रति आदि स्थायी भावों के उपनिबन्धन में विरोध नहीं आता। इस विषय में यह भी पूछा जा सकता है कि जहाँ रत्यादि पदों का काव्य में प्रयोग होता (रत्यादि पद अश्रूयमाण होते हैं),[1] वहाँ भी तात्पर्य रति आदि भावों में ही होता है, क्योंकि विभाव आदि साधनों के कारण ही भावों का आक्षेप होता है, पदों के साक्षात् प्रयोग के कारण नहीं।

ये स्थायी भाव आठ होते हैं:—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय तथा शोक। कुछ आचार्य शम जैसे नवें स्थायी भाव को भी मानते हैं, किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य (रूपकों) में नहीं होती। हमारे मतानुसार यह भाव नाट्यानुकूल नहीं है। अतः नाट्यशास्त्र की दृष्टि से स्थायी भाव केवल आठ ही हैं। शम जैसे नवें स्थायी भाव तथा उसके रस—शान्त—को अलग से मानना हमें सम्मत नहीं।

---

१. वहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि जहाँ रत्यादि पद का काव्य में साक्षात् प्रयोग (श्रूयमाण) होता है, वहाँ भी तात्पर्य (फिर से) उन्हीं भावों में होगा।

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः—'नास्त्येव शान्तो रसः' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्र-बन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात्। ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिनः।

ननु च—

'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥'

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः।

है। नाटकादि रूपकों में अभिनय की प्रधानता है, अभिनय ही इन रूपकों की आत्मा है। अतः अभिनयपरक रूपकों में हम शम का निषेध सचमुच में कर रहे हैं। इसका खास कारण यह है कि शम में व्यक्ति की समस्त लौकिक प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है, (एक वीतराग समाधिदशा शम में पाई जाती है)। इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है। इसलिए अभिनय की अशक्यता के कारण ही हम नाटकादि में शम स्थायी की स्थिति स्वीकार नहीं करते।

कुछ लोग (पूर्वपक्षी) हर्षरचित नागानन्द नाटक में शान्त रस मानकर उसका स्थायी शम मानते हैं, वह ठीक नहीं है। नागानन्द नाटक में सारे प्रबन्ध में आरम्भ से अन्त तक जीमूतवाहन (नायक) का मलयवती के प्रति अनुराग निबाहा गया है, तथा उसे अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति होती है। ये दोनों ही बातें शम के विरुद्ध पड़ती हैं। शम की स्थिति में अनुराग का वर्णन तथा बाद में किसी लौकिक फल की प्राप्ति होना विरोधी है। शम में तो व्यक्ति विषयों से विमुख रहता है, तथा किसी लौकिक फल की इच्छा नहीं रखता, यदि उसे कोई इच्छा होती भी है तो वह पारलौकिक फल (मोक्ष) की ही। ऐसी दशा में नागानन्द का स्थायी भाव शम कैसे हो सकता है? एक ही अनुकार्य जीमूतवाहनादि के विभाव तथा आलम्बन एक साथ विषयानुराग (विषय के प्रति आसक्ति), तथा विषयापराग (विषयों से विरक्ति) दोनों नहीं हो सकते। या तो उसमें विषयासक्ति ही हो सकती है, या विषय-विरक्ति ही। जीमूतवाहन में विषय-राग स्पष्ट है, अतः विषय-विरक्ति रूप शम नहीं हो सकता।

तो फिर नागानन्द का स्थायी क्या है? यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। इसी का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि इस नाटक में वीर रस का स्थायी उत्साह ही स्थायी भाव है, उत्साह को स्थायी भाव मान लेने पर मलयवतीविषयक प्रेम (शृङ्गार) उसका अङ्ग बन जाता है तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति भी उसका फल हो जाता है। इस प्रकार उत्साह स्थायी भाव का शृङ्गार तथा ऐहिक फल प्राप्ति से कोई विरोध नहीं पड़ता। जो भी कुछ किया जाता है उसकी इच्छा अवश्य होती है, सारे कर्तव्य ईप्सित होते हैं, इसलिए परोपकार में प्रवृत्त वीर को, जो दूसरे लोगों को परोपकारादि से जीत लेना चाहता है, फल प्राप्ति होना तो आवश्यक ही है, यह हम पहले ही द्वितीय प्रकाश के धीरोदात्त नायक के प्रकरण में बता चुके हैं।

इसलिये यह स्थित है कि केवल आठ ही स्थायी भाव हैं।

पूर्वपक्षी को इस संख्या (आठ) के अवधारण पर आपत्ति है। वह कहता है कि 'निर्वेद आदि भावों को भी रस मानना ठीक होगा। नाटकादि में निर्वेदादि भावों का आस्वाद किया ही जाता है, उनकी चर्वणा ठीक उसी तरह होती है, जैसे रत्यादि स्थायी भावों की। आस्वाद विषय होने के कारण मधुर, अम्ल आदि रस कहलाते हैं, क्योंकि उनका रसन (स्वाद) प्राप्त किया जाता है। यह रसन निर्वेदादि भावों में भी पूरी तरह मौजूद है, इसलिए ये भी रस हैं। इनको रस मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।' इस उक्ति के अनुसार कई विद्वानों ने दूसरे रसों को भी स्वीकार किया है, और इस तरह उन उन रसों के दूसरे स्थायी भाव की भी

अत्रोच्यते—

> निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
> वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ ३६ ॥

(अताद्रूप्यात् =) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेवैषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात्. अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न

भवति किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता ।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन

की परख होती है, यही उसका प्रयोजक है। निर्वेदादि भावों में यह बात नहीं पाई जाती, अतः वे स्थायी नहीं हैं। जब वे भाव ही नहीं तो उनके रस (शान्तादि) भी नहीं हो सकते, उन्हें 'निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकामस्तीति तेऽपि रसाः' के आधार पर रस भी नहीं कहा जा सकता। जब इनमें से कोई भाव स्थायी नहीं तो वे रस भी नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा उनके रस आठ ही हैं।

[स्थायी भावों व रसों का निर्धारण हो जाने पर; उनकी संख्या नियत कर देने पर; एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि रस व स्थायी का काव्य-नाटक से क्या सम्बन्ध है। काव्य या नाटक के द्वारा रस की प्रतीति किस तरह से, किस प्रक्रिया से, कौन से व्यापार से होती है। इसके विषय में विद्वानों के कई मत हैं। धनञ्जय व धनिक के विरोधी मतों में प्रमुख मत ध्वनिवादियों का है जो रस तथा काव्य में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध मानते हैं, तथा इस सम्बन्ध के लिए अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन वृत्तियों (शब्दशक्तियों) से भिन्न तुरीया वृत्ति—व्यञ्जना-की कल्पना करते हैं।[1] ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन दोनों ही रस को वाच्य, लक्ष्य या तात्पर्यार्थ मानने से सहमत नहीं, वे इसे अभिव्यङ्ग्य मानते हैं। धनञ्जय तथा धनिक मीमांसक हैं, वे अभिधावादी हैं, तथा लोल्लट के दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापार को भी मानते हैं जहाँ अभिधाव्यापार बाण की तरह काम करता माना गया है :—सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः। स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति को वे तात्पर्य या वाक्यार्थ ही मानते हैं। इसलिए ध्वनिवादियों की व्यञ्जना तथा उसके आधार पर रस या भाव की व्यङ्ग्यता का खण्डन करने के लिए वृत्तिकार 'वाच्या प्रकरणादिभ्यो' इस कारिका के पहले ध्वनिवादी के पूर्वपक्षी मत को विशद रूप से रखता है, जिसके उत्तर में इस कारिका में धनञ्जय ने अपना सिद्धान्तपक्ष प्रतिष्ठापित किया है।]

प्रश्न होना स्वाभाविक है कि स्थायी भावों तथा उनके रसों का काव्य से किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यह तो स्पष्ट है कि काव्य (नाटकादि) के ही द्वारा—देख कर (या सुन कर) सहृदय रस की चर्वणा करते हैं; किन्तु रस चर्वणा काव्य का साक्षात् अर्थ, वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है, अथवा इससे भी भिन्न कोई दूसरा अर्थ इसे माना जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर ध्वनि तथा व्यञ्जना की कल्पना करने वाले आचार्य इस प्रकार से देते हैं। उनके मतानुसार काव्य तथा रस में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध नहीं मान सकते; न तो रस वाच्य ही है, न काव्य (काव्य ही नहीं काव्य में वर्णित विभावादि भी) उसका वाचक ही। शब्द की अब तक दो शक्तियाँ मानी जाती रही हैं, अभिधा तथा लक्षणा, जिनके साथ तात्पर्य नामक वाक्यवृत्ति का भी समावेश किया जाता है। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द तथा उसके अर्थ में जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह सम्बन्ध वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'गौः' शब्द 'सास्नादिमान् पशु' का वाचक है, तद्विशिष्ट पशु उसका वाच्य। काव्य तथा रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जाता।

---

१. ध्वनिवादियों के इस मत का विवेचन भूमिका भाग में द्रष्टव्य है।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः—तत् सामान्याभिधायिनस्तु—लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे

काव्य तथा उसके कार्यभूत रस में वाच्यवाचकभाव का निराकरण करने के बाद पूर्वपक्षी उसके लक्ष्यलक्षकभाव का निराकरण करता है। काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव भी नहीं है। न तो काव्य लक्षक ही है, न रस लक्ष्य ही। अभिधा के बाद दूसरी शब्द शक्ति है लक्षणा। अभिधा का निराकरण करने पर कुछ लोग रस को लक्ष्य मानकर उसको लक्षणा व्यापारगम्य मानें, तो यह मत भी ठीक नहीं।[1]

(जब हम देखते हैं कि किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द साक्षात् अर्थ को लेने पर प्रकरण में ठीक नहीं बैठ पाता, तो हम उस दशा में मुख्यार्थ का त्याग कर देते हैं, तथा दूसरे अर्थ की प्रतीति करते हैं। यदि यह दूसरा अर्थ किसी न किसी तरह मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है, तथा उस प्रकार के शब्द से मुख्यार्थ का बाध होने के कारण वैसे अमुख्यार्थ की (जो कि मुख्यार्थ से सम्बद्ध है) प्रतीति कराने में कोई न कोई कारण (रूढि या प्रयोजन) विद्यमान रहता है, तो इस अर्थ की प्रतीति को हम लक्षणाव्यापारगम्य मानते हैं, क्योंकि वह दूसरा अर्थ मुख्यावृत्ति के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता। इस तरह लक्षणा शक्ति के क्रियाशील होने में तीन शर्तों का होना आवश्यक है—मुख्यार्थबाध, तद्योग; रूढि अथवा प्रयोजन। इसी बात को मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगो रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ (काव्यप्रकाश २-९)

लक्षणा का हम प्रसिद्ध उदाहरण ले सकते हैं :—'गङ्गायां घोषः', जहाँ 'गङ्गा' का अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ है 'गङ्गा की धारा, गङ्गा का प्रवाह', जब कि गङ्गा में आभीरों की बस्ती (घोष) स्थित नहीं रह सकती। प्रवाह तो कभी भी किसी बस्ती का आधार नहीं हो सकता। फलतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, वाच्यार्थ ठीक नहीं बैठता। इसके बाद इसका अर्थ 'गङ्गा के तीर पर आभीरों की बस्ती' यह लेना पड़ता है। अभिधा के केवल सङ्केतिक शब्द तक ही सीमित रह सकने के कारण, इस अर्थ की प्रतीति किसी दूसरी वृत्ति 'लक्षणा' के द्वारा होती है। यहाँ 'गङ्गातीर' 'गङ्गाप्रवाह' के समीप है, इस तरह उन दोनों में योग है ही, साथ ही 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग करने का यह प्रयोजन है कि गङ्गातीर में भी गङ्गाप्रवाह की शीतलता तथा पवित्रता की प्रतिपत्ति हो। इस तरह 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा है।)

काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव इसलिए नहीं माना जा सकता कि लक्षणा व्यापार सामान्यशब्द (गङ्गादि) का प्रयोग विशिष्ट धर्मवाले पदार्थ (गङ्गातीरादि) में किया जाता है। (मोटे तौर पर सामान्य का अर्थ बतानेवाले शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग लक्षणा है।) यदि रस को काव्य का लक्ष्य मानें, तो काव्य में ऐसे लक्षक शब्दों (पदों) का प्रयोग होना चाहिए, जो (मुख्या वृत्ति न सही, लक्षणा से ही) रस की प्रतीति करावें। काव्य में ऐसा

---

१. इस सम्बन्ध में यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि 'अभिधावृत्तिमात्रिका' के रचयिता मुकुलभट्ट ने रसको लक्षणागम्य ही माना है। 'दुर्वारा मदनेषवो' आदि उदाहरण को लेकर वे इसमें विप्रलम्भशृङ्गार को मानते लिखते हैं :—

'तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा।'

(अभिधावृत्तिमात्रिका पृ. १४)

घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? अत एव 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसाम-

---

नहीं होता, इसलिए लक्षितलक्षणा (अजहल्लक्षणा) के द्वारा रस की पुष्टि या प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसे स्पष्ट करने के लिये हम लक्षणा का प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' लेकर उसकी अर्थ प्रक्रिया की तुलना रसप्रतीति की प्रक्रिया से कर सकते हैं। इससे साफ होगा कि रस लक्षणाव्यापार का विषय है ही नहीं।

'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में हम देखते हैं कि 'गङ्गा' का वाच्यार्थ (स्वार्थ, मुख्यार्थ) गङ्गा का स्रोत या गङ्गा का प्रवाह है। किन्तु गङ्गा के स्रोत पर घोष की स्थिति असम्भव है। इस तरह से 'गङ्गा' शब्द इस वाक्य में अपने अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ है, उसकी गति स्खलित हो जाती है। जब वह अपने स्वार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, तो उस स्वार्थ से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गातट को लक्षित करता है। ठीक यही बात रस के बारे में कहना ठीक नहीं होगा। काव्य में वर्णित दुष्यन्तादि नायक, तथा उनसे सम्बद्ध विभावादि ही रस के प्रत्यायक हैं, यह तो सर्वमान्य है। ऐसी दशा में दुष्यन्तादि के अभिधायक शब्द ही रस के लक्षक हो सकते हैं। *अब दुष्यन्तादि शब्दों के द्वारा रस लक्षित होता है,* तो *लक्षणा* के हेतुत्रय के अनुसार सबसे पहले दुष्यन्तादि शब्दों के मुख्यार्थ दुष्यन्तादि का तो बाध होना आवश्यक ही है। पर नाटकादि में दुष्यन्तादि शब्दों में मुख्यार्थ बाध स्वीकार कर लेने से तो बड़ी गड़बड़ी हो जायगी। दुष्यन्तादि शब्द दुष्यन्तादि की प्रतीति कथमपि नहीं कराते, यह तो विरोधी पक्ष को भी मान्य नहीं होगा। अतः स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के नायकादि शब्द स्खलद्गति नहीं हैं। जब वे स्खलद्गति नहीं हैं, तो दूसरे अर्थ-लक्ष्यार्थ (रस) की प्रतीति कैसे करायेंगे, वे रस को लक्षित कर ही कैसे सकते हैं? साथ ही लक्षणा के प्रयोग में रूढि या प्रयोजन का होना भी आवश्यक है, पर यहाँ न तो शब्द स्खलद्गति ही है, न प्रयोजन ही दिखाई देता है।[1]

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि अ भधा तथा शुद्धा लक्षणा से रस की प्रतीति नहीं होती है, तो रस को उपचार प्रतीत या *गौणी लक्षणा* के द्वारा प्रतिपादित मान लिया जाय, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं।[2]

---

१. *लक्षणा के द्वारा तुरीयकक्षानिविष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने की चेष्टा करने वाले* आचार्यों का खण्डन ध्वनिवादियों ने इसी आधार पर किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट की निम्न प्रसिद्ध कारिका इस सम्बन्ध में उद्धृत की जा सकती है, जहाँ व्यंग्य को (जिसमें रस भी सम्मिलित है) लक्ष्य न मानने के कारण बताये गये हैं :—

लक्ष्य न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो। न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥

(काव्यप्रकाश कारिका १२, पृ ६०.)

२. प्राभाकर मीमांसक गौणी को अलग से वृत्ति मानते हैं, जब कि भाट्ट मीमांसक (तथा व्यंजनावादी भी) उसे लक्षणा के ही अन्तर्गत मानकर लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी, ये दो भेद, उपचारामिश्रितत्व तथा उपचारमिश्रितत्व के आधार पर करते हैं। प्राभाकर मीमांसकों का यह मत प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ ने उद्धृत किया है :—

प्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्। न च काल्पनिकत्वम्–अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वा-

(जिस तरह शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा प्रयोजन कारण होता है, उसी तरह गौणी में भी ये तीन कारण अवश्य होते हैं। शुद्धा तथा गौणी का परस्पर प्रमुख भेद यह है कि शुद्धा में तद्योग किसी सादृश्येतर सम्बन्ध (कार्य-कारण, सामीप्य, अङ्गाङ्गिभाव आदि सम्बन्ध) के कारण होता है, जब कि गौणी में वह सादृश्य सम्बन्ध पर आधृत होता है। इसी को उपचार भी कहते हैं। जहाँ दो भिन्न पदार्थों के अत्यधिक सादृश्य के कारण उन दोनों में भेद प्रतीति को छिपा दिया जाय, उसे उपचार कहते हैं :—'अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः।' 'मुखं चन्द्रः' (मुख चन्द्रमा है), 'गौर्वाहीकः' (पंजाबी बैल है); 'सिंहो माणवकः' (बच्चा शेर है) आदि में मुख तथा चन्द्र, गौ तथा वाहीक, माणवक तथा सिंह इन परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थों में क्रमशः आह्लादकत्वादि, मौग्ध्यादि, तथा शौर्यादि के सादृश्य के कारण अभेद स्थापित कर दिया गया है। यह सादृश्य ही मुख्य वृत्ति के स्थान पर उपचरित वृत्ति का, वाचक शब्द के स्थान पर उपचारक शब्द के प्रयोग का निमित्त तथा प्रयोजन है। प्रयोक्ता वाहीक के साथ 'गौः' का प्रयोग इस निमित्त से करता है कि श्रोता को इस बात की प्रतीति हो जाय कि (यह) पंजाबी उतना ही मूर्ख है, जितना पशु-बैल।)

हम देखते हैं कि जहाँ कहीं 'सिंहो माणवकः' आदि उदाहरणों में गौणी (उपचार) वृत्ति का प्रयोग होता है, वहाँ किसी निमित्त तथा प्रयोजन की स्थिति अवश्य होती है, वहाँ शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति कराना प्रयोजन होता है। यदि किसी सादृश्य की प्रतीति कराना न होता, तो मुख्य के स्थान पर अमुख्य पद का प्रयोग उन्मत्तप्रलपित ही होता। जब किसी भी अर्थ (माणवकादि) का वाचक शब्द विद्यमान है, तो ऐसा कौन होगा जो बिना किसी निमित्त या प्रयोजन के उपचरित शब्द (सिंहादि) का भी प्रयोग करे? रसादि को उपचारवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता। जैसे 'सिंहो माणवकः' में सिंह तथा माणवक (बच्चा) में समान शौर्य देखकर उस शौर्य के सादृश्य की प्रतीति कराना, उपचारवृत्ति का प्रयोजन है, वैसे रस तथा काव्य में भी कोई सादृश्य है तथा उसकी प्रतीति कराना कवि को अभीष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। काव्य तथा रस में कोई अतिशय सादृश्य है ही नहीं, जब ऐसा सादृश्य है ही नहीं, तो उसकी प्रतीति कराने का भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता।[1]

अगर विरोधी पक्ष के इस मत को हम मान भी लें कि काव्य रस की प्रतीति अभिधाशक्ति

गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः। तदयुक्तम्। तस्या लक्षणायामन्तर्भावात्।

—प्रतापरुद्रीय (के. पी. त्रिवेदी सं०) पृ. ४४.

१. काव्य में मुख्यार्थबाध होने पर ही तो हम रस को उपचारगम्य मान सकते हैं; पर काव्य में प्रयुक्त पदादि में 'मुख्यार्थबाध–स्खलद्गतित्व–' होता ही नहीं है। प्रत्युत मुख्यार्थ से ही रस की प्रतीति तीसरे क्षण में होती है। इसीलिए व्यङ्ग्यार्थ को (रस की भी) गौणीवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता है, इस बात को ध्वनिकार ने इस कारिका में निबद्ध किया है—

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात्, यथा कुमारसम्भवे—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥'

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाशाब्दापि-शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः, न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि ।

के द्वारा मानते हैं; जो वाच्यार्थादि की प्रतीति के लिए कल्पित अभिधा, लक्षणा या गौणी शक्ति से सर्वथा भिन्न है ।[1]

(यहाँ यह बता दिया जाय कि ध्वनिवादी काव्यार्थ के तीन रूप मानते हैं—रस, वस्तु तथा अलङ्कार । रसरूप काव्यार्थ में काव्य में उपात्त शब्दों का मुख्यार्थ रत्यादि भाव या शृङ्गारादि रस की व्यञ्जना कराता है, वह उन्हें सहृदय-हृदय के आस्वाद का विषय बनाता है । वस्तुरूप काव्यार्थ में काव्य का वाच्यार्थ, जो स्वयं वस्तुरूप या अलङ्काररूप होता है, किसी वस्तु की व्यञ्जना कराता है । अलङ्काररूप काव्यार्थ में काव्य का वस्तुरूप या अलङ्काररूप वाच्यार्थ, अलङ्कार की व्यञ्जना कराता है । वस्तु तथा अलङ्कार व्यञ्जक भी हो सकते हैं, व्यङ्ग्य भी । रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है, उसका व्यञ्जक, काव्य का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ), वस्तुरूप होगा या अलङ्काररूप । ऊपर ध्वनिवादी ने बताया है कि प्रतीयमान अर्थ अभिधादि के द्वारा प्रतीत हो ही नहीं सकता । उसके लिए व्यञ्जना नामक व्यापार की कल्पना करनी ही पड़ेगी, इसे स्पष्ट करने के लिए धनिक ने पूर्वपक्षी के मत को तीन उदाहरणों से स्पष्ट किया है । इन तीनों उदाहरणों का प्रयोग आनन्दवर्धन ने अपने 'आलोक' (ध्वन्यालोक) में किया है । धनिक ने उन्हीं के आधार पर पूर्वपक्ष को स्पष्ट किया है ।)

हम बता चुके हैं कि रस की प्रतीति काव्योपात्त शब्दों के द्वारा नहीं होती । वह तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के निबन्धन के द्वारा होती है । अतः काव्योपात्त शब्दों या काव्य का उसे वाच्यार्थ कैसे माना जा सकता है । इसे स्पष्ट करने के लिए हम कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग से निम्न पद्य ले सकते हैं :—

कोमल तथा छोटे चञ्चल कदम्ब के समान सुन्दर अङ्गों से भाव को प्रकट करती हुई पार्वती भी, (उस समय, जब कामदेव ने शिव को अपने बाण का लक्ष्य बनाया), इधर-उधर चञ्चलता से फेंके हुए नेत्र वाले सुन्दर मुख से कुछ टेढ़ी होकर बैठी थी ।

इस पद्य में शिव विषयक रतिभाव के आलम्बन विभावरूप पार्वती का वर्णन किया गया है । पार्वतीरूप विभाव में अनुराग के कारण उत्पन्न अवस्था वाले अनुभावों; अङ्गों के पुलक, नेत्रों के चाञ्चल्य, मुख के साचीकरण आदि का वर्णन किया गया है । इस प्रकार आलम्बन विभाव (पार्वती) का उसके अनुभावों के साथ वर्णन शृङ्गार की प्रतीति करा रहा है । यद्यपि यहाँ रतिभाव या शृङ्गार रस का वाचक शब्द नहीं है, फिर भी शृङ्गार की प्रतीति उत्पन्न हो ही रही है । यह बात शृङ्गार के बारे में ही नहीं है, दूसरे रसों के विषय में भी लागू होती है ।

---

१. मिलाइये—
तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपकोऽभ्युपगन्तव्यः । (लोचन, पृ. ११५-मद्रास संस्करण)

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥'

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति। न चासावर्थापत्तिजन्या—अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात्। नापि वाक्यार्थत्वं

ठीक यही बात अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थ के बारे में कही जा सकती है। जैसे निम्न उदाहरण में—

हे चञ्चल नेत्र वाली सुन्दरी, समस्त दिशाओं को अपने लावण्य (सौन्दर्य) की कान्ति से प्रदीप्त करने वाले, मुस्कराते हुए तुम्हारे मुख को देखकर भी यह समुद्र बिल्कुल क्षुब्ध नहीं होता, इस बात को देख कर मैं मानता हूँ कि समुद्र सचमुच ही जड़राशि (पानी का समूह; मूर्ख) है। तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा है। समुद्र पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर चञ्चल व क्षुब्ध होता ही है। पर तुम्हारे मुखरूपी पूर्णचन्द्र को देख कर उसका क्षुब्ध नहीं होना उसके 'जड़राशित्व' की पुष्टि कर देता है। तुम जैसी अनिन्द्य सुन्दरी को देख कर किसका मन चञ्चल न होगा। यदि कोई व्यक्ति चञ्चल न हो, तो वह मेरी समझ में मूर्ख है।

इस पद्य में 'नायिका का मुख पूर्ण चन्द्रमा है' इस रूपक अलङ्कार की प्रतीति हो रही है, पर पद्य में इस ढङ्ग की पदावली नहीं कि इस अर्थ को शाब्दिक या वाच्य कहा जा सके। अतः इस रूपक अलङ्कार रूप अर्थ को अभिधा का विषय न मानकर व्यञ्जनाप्रतिपाद्य ही मानना ठीक होगा। ऊपर के पद्य में 'नायिका का मुखकमल चन्द्र के समान है' यह उपमादि अलङ्कार की प्रतिपत्ति व्यञ्जना के ही द्वारा होती है।

(कुछ लोग व्यङ्ग्यार्थ को अर्थापत्तिग्राह्य मान लेते हैं। मीमांसकों ने यथार्थ ज्ञान के साधनरूप प्रमाणों में एक नये प्रमाण की कल्पना की है। यह प्रमाण अर्थापत्ति कहलाता है। जहाँ वाक्य का अर्थ ठीक नहीं बैठ पाता हो और बाहर से वाक्य में प्रयुक्त पदों में अनुपपद्यमानता हो, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अर्थ की प्रतीति मानी जाती है। उदाहरण के लिए 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' (पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) इस वाक्य में 'देवदत्त कभी खाता ही नहीं' ऐसा अर्थ नहीं ले सकते। क्योंकि वह खाना ही न खाता होता, तो मोटा न रह पाता, पतला हो जाता। इसलिए यहाँ 'अर्थात् वह रात में खाता है' (अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते) इस अर्थ की प्रतीति अर्थापत्ति से हो जाती है। इसी सरणि से व्यङ्ग्यार्थ-रसादि-की भी प्रतीति हो ही सकती है यह व्यञ्जनाविरोधी का मत है।)

जिस तरह 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य का देवदत्तविषयक रात्रिभक्षण रूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण वेद्य है, ठीक वैसे ही रस भी अर्थापत्ति के द्वारा काव्योपात्त वाक्यों से प्रतीत हो जायगा, यह मत मानना ठीक नहीं। वस्तुतः रसचर्वणा अर्थापत्तिवेद्य या अर्थापत्तिजन्य नहीं है। अर्थापत्ति वहाँ ही होगी, जहाँ अर्थ ठीक नहीं बैठता हो। काव्योपात्त शब्दों का वाच्यार्थ तो ठीक बैठ ही जाता है; अतः वहाँ 'अर्थात्' की आपत्ति नहीं करनी पड़ती। रसादि की चर्वणा के पूर्व वहाँ अनुपपद्यमानार्थत्व होता ही नहीं। रसादि की प्रतीति में, अर्थज्ञान ठीक नहीं बैठने पर ही अर्थापत्ति हो सकती है।

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद्ध्वनेः। तत्र, स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्,

---

इस सम्बन्ध में, तात्पर्य में व्यञ्जना का समावेश करने वाला ध्वनिवादी के सम्मुख यह युक्ति रखता है। हम एक वाक्य ले लें 'विषं भुंक्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—'चाहे विष खा लो, पर इसके घर कभी न खाना'। इस वाक्य में 'विषं भुंक्ष्व' (जहर खा लो) इसका प्रयोग हुआ है, यहाँ पदार्थ रूप में विधि का प्रयोग हुआ है, किन्तु पदार्थ का तात्पर्य निषेध रूप में ही है। 'इस शत्रु के घर कभी खाना न खाना' यह निषेधरूप वाक्यार्थ तीसरे क्षण में ही प्रतीत होता है। अतः 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्य को इस बात का उदाहरण माना जा सकता है कि तात्पर्य रूप वाक्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय भी हो सकता है। यदि कोई कहे कि यहाँ निषेधार्थ रूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं है, तो ऐसा खुद व्यञ्जनावादी भी मानेंगे। व्यञ्जनावादी स्वयं ध्वनि को तात्पर्य से भिन्न मानते हैं; तथा यहाँ तात्पर्य है। अतः यहाँ पर व्यञ्जनावादी भी वाक्यार्थ नहीं है, ऐसा न कहेंगे। वे भी यहाँ वाक्यार्थ मानेंगे ही। यदि विरोधिपक्ष, इस तरह से तृतीय कक्षा तक तात्पर्य वृत्ति का विषय तथा वाक्यार्थ माने तो ठीक नहीं। 'विषं भुंक्ष्व' में पहली कक्षा में 'विषं' तथा 'भुंक्ष्व' के व्यस्त पदों के अर्थ की प्रतीति होती है। द्वितीय कक्षा में वाक्य अन्वयघटित होकर प्रकरणसम्मत अर्थ की प्रतीति कराता है। इसी प्रकरणगत अन्वित अर्थ को वाक्यार्थ कहेंगे। इस वाक्य को लेने पर हम देखते हैं कि 'विष खा लो' यहीं तक द्वितीय कक्षा नहीं है। जब तक वाक्यार्थ द्वितीय कक्षा में विश्रान्त नहीं हुआ है, तब तक तृतीय कक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'विष खा लो' तक पूर्ण रूप से वाक्य का प्रकरण घटित नहीं हो पाता, विधिरूप अर्थ पूर्ण वाक्यार्थ नहीं होने के कारण अर्थ की आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। इस तरह द्वितीय कक्षा यहीं समाप्त नहीं हो जाती, वह तो 'उस शत्रु के घर पर भोजन न करना' इस निषेधार्थ रूप वाक्यार्थ पर जाकर विश्रान्त होती है। अतः निषेध की प्रतीति द्वितीय कक्षाविषयक ही है। अतः द्वितीय कक्षा के समाप्त हुये बिना ही इस निषेधरूप अर्थ में तृतीय कक्षा मानना अनुचित है, उसमें तृतीय कक्षा का सर्वथा अभाव है। प्रकरण के पर्यालोचन से पता चलता है कि इस वाक्य का प्रयोग पिता ने अपने पुत्र के प्रति किया है। द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ ज्ञान होते समय जब हम देखते हैं कि यह वाक्य पिता ने पुत्र से कहा है, जो यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र विष खा ले, तो हमें यह पता लगता है कि यहाँ 'भुंक्ष्व' क्रिया के साथ 'कर्ता' (त्वं) तथा कर्म (विषं) इन कारकों का अन्वय ठीक तरह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि यह स्पष्ट है कि पिता का पुत्र के प्रति यह आदेश नहीं है कि 'सचमुच विष खा लो,' किन्तु यह कि शत्रु के घर न खाना। इसलिए पूरा अर्थ द्वितीय कक्षा का ही विषय है।

और यह नियम है कि रसादि व्यङ्ग्यार्थ सदा तृतीय कक्षा निविष्ट ही हैं। यह निश्चित है।

पड़ते हैं (देखिये, काव्यप्रकाश उल्लास ५)। इस प्रकार वाक्यार्थ तो दोनों ही मानते हैं, इसमें समानता है। हाँ, उनकी प्रतिपत्ति की सरणि या प्रक्रिया में दोनों सम्प्रदायों में परस्पर भेद है। इन्हीं लोगों के मतानुयायी आलङ्कारिकों ने—जिनमें धनञ्जय व धनिक भी शामिल हैं—व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्य में ही शामिल करने की चेष्टा की है। इन्हीं लोगों का विरोध ऊपर किया गया है। ध्वनिवादी के इसी विरोध को धनिक ने पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा है।

तदुक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है :—

'जिस काव्य में शब्द अथवा उसका वाच्यार्थ, अथवा दोनों एक साथ, अपने वाच्यार्थ को तथा स्वयं को गौण बना कर किसी अलौकिक रमणीयता वाले व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करते हैं,

---

जैसे :—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडोद्गमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

'हे बान्धवों की पीड़ा न जानने वाली झूठी दूति, तू यहाँ से बावली में नहाने गई थी; उस अधम के पास न गई । तेरे स्तनों के प्रान्त भाग का सारा ही चन्दन खिर गया है, तेरे अधर ओष्ठ की लाली मिट गई है, दोनों नेत्रों के किनारे अञ्जन रहित हैं, तथा तेरा यह दुर्बल शरीर भी पुलकित हो रहा है ।'

यहाँ 'तू उस अधम के पास न गई' इस विधिरूप वाच्यार्थ से 'ये सब चिह्न वापी-स्नान के नहीं हैं, अपितु तू मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है, जो काव्य में वाच्यार्थ से प्रधान है । अतः व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से प्रधान होने के कारण यहाँ ध्वनि काव्य है ।

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान नहीं होता ।

(अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्)

जैसे—

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥
(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥)

'वेतस कुञ्ज से उड़ते पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई, घर के काम में व्यस्त, बहू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ।'

यहाँ शकुनि कोलाहल सुनकर अङ्गों का शिथिल पड़ जाना वाच्यार्थ है । प्रकरणादि के वंश से शकुनियों के उड़ने के कारणभूत, वेतस कुञ्ज में उपपति के आगमन की व्यङ्ग्यार्थ रूप में प्रतीति हो रही है । यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ प्रथम तो उतना चमत्कारयुक्त नहीं है, जितना कि अङ्गों, के शिथिल पड़ जाने वाला' वाच्यार्थ । दूसरे यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साधन बन कर उसे स्पष्ट करता है । व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर ही 'अङ्गों के शिथिल पड़ने' का अर्थ घटित होता है । व्यङ्ग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का उपस्कारक हो गया है । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के अप्रधान (गौण) होने के कारण यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य है ।

(३) चित्रकाव्य में शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार रूप वाच्यार्थ इतना अधिक होता है, कि व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा नगण्य बन जाता है, जैसे—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः, तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनिरवं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

हैं। जब काव्य में रसादि की प्रतिपत्ति प्रधान रूप से हो, असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। यदि रसादि अङ्गरूप में प्रतीत होते हों, तो वहाँ ध्वनि नहीं होती, वहाँ पर रसवत् अलङ्कार ही होता है।[1]

---

१. ध्वनि के मोटे तौर पर १८ भेद माने जाते हैं। इनमें भी पहले पहल लक्षणा के आधार पर दो भेद, तथा अभिधा के आधार पर दो भेद होते हैं। इन्हें क्रमशः अर्थान्तर संक्रमितवाच्य, अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य, असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहा जाता है। ध्वनि के भेदोपभेदों के विशेष प्रपञ्च के लिये ध्वन्यालोक या काव्यप्रकाशादि द्रष्टव्य हैं। यहाँ दिङ्मात्ररूप में इन चार ध्वनिभेदों को स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा।

अविवक्षितवाच्य ध्वनिः—जहाँ लक्षक पद के द्वारा प्रतीत प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ काव्य में प्रधान हो, वहाँ लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। लक्षणा के दो भेद होते हैं:— लक्षणलक्षणा तथा उपादानलक्षणा। अतः इन्हीं के आधार पर इस ध्वनि के भी दो भेद हो जाते हैं। लक्षणलक्षणा वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो तो वहाँ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य होगा। उपादान लक्षणा में अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि होगी। इन दोनों के उाहरण क्रमशः ये हैं:—

(क) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः—**

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखित मास्स्व ततः शरदां शतम्॥

इस पद्य में किसी अपकारी व्यक्ति के प्रति कहा जा रहा है:—'आपने हमारा बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक कहें। आपने बड़ी सज्जनता बताई है। भगवान् करे आप इसी तरह उपकार करते सैकड़ों वर्ष सुखी रहें।' यहाँ इस वाच्यार्थ के बाद 'आपने हमारा बड़ा अपकार किया है' इस लक्ष्यार्थ के प्रतीत होने पर तृतीयकोटि में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है जो उस व्यक्ति की नीचता ध्वनित करता है। अतः यहाँ वाच्यार्थ के पूर्णतः तिरस्कृत हो जाने से अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है।

(ख) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य:—**

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं, समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते॥

यौवन से युक्त किसी नायिका को देखकर, उसके यौवन के नूतन प्रादुर्भाव की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है। इस चन्द्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन का उद्गम **प्रसन्न हो रहा** है। यौवन सचमुच अहोभाग्य है कि वह इस चन्द्रमुखी के शरीर में प्रविष्ट हुआ है। इसीलिये यौवन फूला नहीं समाता। यौवन के प्रादुर्भाव के समस्त चिह्न इस नायिका में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसके मुख में मुस्कराहट **विकसित हो रही** है। जिस तरह फूल के विकसित होने पर सुगन्ध फूट पड़ती है, वैसे ही इसके मुख में सुगन्ध भरी पड़ी है। इससे नायिका पद्मिनी है यह भी व्यञ्जना हो रही है। इसकी आँखों ने बाँकेपन को भी **वश में कर लिया** है। इसकी टेढ़ी चितवन सब लोगों को वश में करने की क्षमता रखती है। जब यह चलती है तो ऐसा जान पड़ता है कि विलास और लीला **छलक** पड़ रहे हों। इसमें विलास तथा लीला का प्राचुर्य है। अतः इसका प्रत्येक अङ्ग मनोहर है। इसकी बुद्धि एक जगह **स्थिर नहीं रहती।** यौवन के आगम के कारण इसका मन अत्यधिक अधीर तथा चञ्चल हो गया है। पहले तो भोलेपन के कारण बड़े लोगों के

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।

ध्वनिवादी के इस पूर्वपक्ष का—जिसके अनुसार रस व्यङ्ग्य है, तथा व्यञ्जनाशक्ति प्रतिपाद्य है—खण्डन करते हुए धनञ्जय निम्नकारिका में अपने सिद्धान्तपक्ष का अवतरण करते हैं :—

किसी वाक्य को सुनकर या पढ़कर उस वाक्य के प्रकरण—वक्ता, श्रोता, देश, काल आदि का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा हम वाक्य में प्रयुक्त कारकों की सहायता से वाक्य में साक्षात् उपात्त शब्द के वाच्यार्थ के रूप में क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

सामने प्रियतम को देखकर इसकी दृष्टि मर्यादित रहती थी, किन्तु अब वैसी नहीं रहती। गुरुजनों के सामने अब भी वैसे तो मर्यादापूर्ण ही रहती है, पर प्रियतम को देखकर मन से अधीर हो उठती है। इसके वक्षःस्थल में स्तन मुकुलित हो गये हैं। कली की तरह ये स्तन भी कठिन हैं तथा आलिङ्गन योग्य हैं। इसके जघनस्थल के अवयव उभर आये हैं इसका प्रत्येक अङ्ग अत्यधिक रमणीय हो गया है, इन सब बातों को देखकर यह जान पड़ता है कि नायिका ने यौवन में पदार्पण कर लिया है।

यहाँ 'मोदने' 'विकसित' 'वशित' 'समुच्छ्वलित' 'मुकुलित' आदि शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। इनसे नायिका को पाकर यौवन का अपने आपको सौभाग्यशाली समझना, मुख का सुगन्धित होना, आदि आदि व्यङ्ग्यार्थों की प्रतीति होती है, जिन्हें ऊपर पद्य की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। यहाँ ये पद अपने वाच्यार्थ को रखते हुए लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराकर व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपत्ति कराते हैं।

विवक्षितवाच्य—जहाँ अभिधा द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराता हो, वहाँ विवक्षितवाच्य ध्वनि होगा। इसी प्रक्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं। एक में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित होता है, दूसरे (रसादि) में यह 'शतपत्रपत्रभेदन्याय' से असंलक्ष्य होता है। इस तरह इसके संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद होते हैं। इसके हम हिन्दी काव्य से दो उदाहरण दे रहे हैं।

(ग) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

पत्राही तिथि पाइये वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्यौ ही रहत, आनन ओप उजास॥

यहाँ वाच्य रूप वस्तु से 'नायिका-मुख पूर्णचन्द्र है' इस अलङ्कार (रूपक अलङ्कार) की व्यङ्ग्यार्थप्रतीति हो रही है। यहाँ वस्तुरूप वाच्यार्थ से रूपक अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ तक का क्रम अच्छी तरह लक्षित हो जाता है।

(घ) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

सघन कुञ्ज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

यहाँ वाच्यार्थ के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना हो रही है। वाच्यार्थ स्मृति तथा औत्सुक्यनामक सञ्चारिभावों की प्रतीति कराकर उनके द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यञ्जना कराता है। वाच्यार्थ से इस रसरूप व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं है। अतः यहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है।

ध्यान रखिये, इन चारों उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्यार्थ से प्रधान है, अतः ध्वनि काव्य है। ऐसा न होने पर काव्य में ध्वनित्व नहीं हो पाता, वह गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है।

वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः ॥ ३७ ॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो

कभी कभी वाक्य में क्रिया का साक्षात् वाचक शब्द उपात्त नहीं होता, फिर भी प्रकरणानुकूल क्रिया का (बुद्धिस्थ क्रिया का) अध्याहार कर ही लिया जाता है। इस प्रकार वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो, या बुद्धिस्थ हो; वही वाक्य का वाक्यार्थ है। ठीक इसी तरह विभावानुभावव्यभिचारी के द्वारा स्थायी भाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है। स्थायी भाव भी वाक्य में बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति वाच्य न होकर प्रकरण संवेद्य है।

हम देखते हैं कि किसी भी लौकिक वाक्य में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है, एक कारक पद, दूसरे क्रिया पद। इन्हीं को भर्तृहरि तथा दूसरे वैयाकरणों ने सिद्ध पद तथा साध्य पद कहा है। वाक्य का तात्पर्य वही होगा, जो अभी तक सिद्ध नहीं है, किन्तु साध्य ही है। अतः क्रिया में ही वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। किसी भी वाक्य में क्रियारूप वाक्यार्थ (तात्पर्य) का होना आवश्यक है, चाहे उस क्रिया के वाचक शब्द का प्रयोग वाक्य में हुआ हो या न हुआ हो। उदाहरण के लिए हम दो लौकिक वाक्यों को लेते हैं, एक में क्रिया वाच्य है, श्रूयमाण है, दूसरे में वह केवल बुद्धिस्थ है, प्रकरणवेद्य है। 'गामभ्याज' (गौ ले जाओ) इस वाक्य में या ऐसे ही दूसरे लौकिक वाक्यों में 'अभ्याज' आदि क्रिया श्रूयमाण है, वक्ता इस क्रिया के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग करता है, तथा श्रोता को वह शब्द कर्णशष्कुली के द्वारा सुनाई देता है। दूसरे वाक्यों में क्रिया का साक्षात् उपादान न भी पाया जाय, जैसे 'द्वारं द्वारं' इस वाक्य में क्रिया श्रूयमाण नहीं है; वक्ता उसका साक्षात् प्रयोग नहीं करता पर प्रकरणवश 'दरवाजा खोलो' या 'दरवाजा बंद करो' अर्थ लिया जा सकता है। दोनों ही वाक्यों में चाहे शब्द का प्रयोग हो, चाहे प्रकरण के द्वारा ही क्रिया बुद्धिस्थ हो जाय, दोनों स्थानों पर कारकों के द्वारा पुष्ट होकर क्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करती है। कारकपरिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ या वाक्य का तात्पर्य है।

ठीक यही बात काव्य के विषय में लागू होती है। काव्य में कभी कभी तो रत्यादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' जैसे उदाहरणों में रति भाव के वाचक शब्द (प्रीत्यै) का साक्षात् उपादान पाया जाता है। दूसरे उदाहरणों में जो शृङ्गार रस या रति भाव के प्रतिपादक हैं, ऐसे शब्दों का उपादान नहीं भी हो सकता है। ऐसे काव्यों में प्रकरण आदि के आधर पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारी भावों के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में ठीक उसी तरह स्फुरित होने लगता है, जैसे प्रकरणादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभावतया सम्बद्ध क्रिया की प्रतिपत्ति होती है। इन रत्यादि स्थायी भावों के तत्तत् विभावों, अनुभावों या सञ्चारियों का तो काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता है, ये तो साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते ही हैं, ये संस्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं।

प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेवस्वानन्दोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि

प्रतिपाद्य है। इस प्रकार काव्यप्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायी भाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायी भाव तथा रस के प्रतिपादक हैं, रस व भाव उनके प्रतिपाद्य। काव्य, काव्योपात्तशब्द, विभावादि, तथा स्थायी भाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य अथवा प्रयोजन दिखाई पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता, अन्य किसी भी काव्यप्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आनन्दोद्भूति को ही काव्य का कार्य माना जायगा। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के ही कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायी भाव की पर्यालोचना करने पर ही सहृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्तत् रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है। इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवसित होती है। रस प्रतीति की सरणि में काव्यप्रयुक्त पदों के अर्थ (पदार्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायी भाव काव्य का वाक्यार्थ है। इस प्रकार वह काव्यवाक्य ही है, जिसके विभाव पदार्थ हैं, और स्थायी भाव वाक्यार्थ। (अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाक्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक कल्पित शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र है।)

हम देखते हैं कि गीतादि के श्रवण के बाद सुख (आनन्द) उत्पन्न होता है। पर गीतादि उस सुख के वाचक नहीं, न वह सुख गीतादि का वाच्य ही। ठीक इसी तरह काव्य तथा उससे प्राप्त सुख (निरतिशय आनन्दरूप रस) के बारे में कहा जा सकता है। अतः काव्य तथा रस के विषय वाच्यवाचक भाव का उपयोग नहीं हो पाता। यदि पूर्वपक्षी ऐसी युक्ति दे, तो ठीक नहीं। गीतादि तथा तज्जनित सुख वाला दृष्टान्त काव्य तथा रस के बारे में देना ठीक नहीं होगा। हम देखते हैं कि काव्य से प्रत्येक व्यक्ति को रस प्रतीति नहीं होती। जो लोग विशिष्ट विभावादि सामग्री का ज्ञान रखते हैं, तथा उस प्रकार के रत्यादि भाव की भावना से युक्त हैं, केवल उन्हीं सहृदयों के हृदय में काव्य को सुन कर तत्तत् रसपरक आनन्द की प्रतीति होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन विभावादि के ज्ञान से रहित तथा रत्यादि भावों की भावना से शून्य, अरसिकों को आनन्द की प्रतीति नहीं होती।

प्रसज्यते प्रधानत्वाद्ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥

इस वाक्य से प्रतीत अर्थ जिसका प्रयोग पुत्रादि के लिए किया गया है, वहाँ भी 'जहर खा लेने से भी बुरा शत्रु भोजन है' यह प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यशक्ति के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता, अतः यहाँ ध्वनि ही है तथा इसकी प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है। इस अर्थ में ध्वनित्व को कौन मना कर सकता है ?[1]

ध्वनि वहीं होगी, जहाँ स्वार्थ (वाक्य का तात्पर्यार्थ) एक बार समाप्त हो गया हो, वह विश्रान्त हो गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थभिन्न प्रतीयमान अर्थ का आश्रय ले। जैसे 'भ्रम धार्मिक' वाक्य में तात्पर्य विध्यर्थ में ही विश्रान्त हो जाता है, किन्तु वाक्य निषेधरूप प्रतीयमान की भी प्रतीति कराता है। ऐसे स्थलों पर ही ध्वनि हो सकेगी। यदि स्वार्थ विश्रान्त नहीं हो सका है, तो उसकी विश्रान्ति सीमा तक तात्पर्य माना जायगा। पर इस बात से ध्वनि-विरोधी सहमत नहीं है। ध्वनिविरोधी धनिक का कहना है कि जहाँ कहीं व्यङ्ग्य माना जाता है, वहाँ व्यङ्ग्य या ध्वनि मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति होना असम्भव है—काव्य के प्रयोजन पर ही जाकर वह विश्रान्त होता है।

(इस तृतीय कारिका में 'तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ' तक पूर्वपक्षी ध्वनिवादी का मत है, 'तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्' यह सिद्धान्तपक्षी धनिक का मत है। आगे की चतुर्थ कारिका में भी सिद्धान्त पक्ष ही उपनिबद्ध हुआ है। पञ्चम कारिका में फिर ध्वनिवादी का मत है, तथा षष्ठ एवं सप्तम कारिका में पुनः सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठापना।)

ध्वनिवादी तात्पर्य के अविश्रान्त होने पर तो तात्पर्य शक्ति का विषय मानता है, तथा उसके विश्रान्त होने पर भी अर्थान्तर प्रतीति होने पर उसे व्यङ्ग्यार्थ मानते हुए व्यञ्जना तथा ध्वनि का विषय मानता है। इस विषय में सिद्धान्तपक्षी उससे यह पूछता है कि किसी भी (अमुक) वाक्य में तात्पर्य यहीं तक है, बस इसके आगे नहीं, उसकी यहाँ विश्रान्ति हो जाती है, इस बात का निर्धारण किसने कर दिया है ? वस्तुतः किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नहीं की जा सकती। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन (कार्य) होता है, वहीं तक फैला रहता है; इसलिए वह इतना ही है, इससे अधिक नहीं ऐसा तौल या माप-जोख नहीं है। तात्पर्य को किसी तराजू पर रख कर नहीं कहा जा सकता, कि इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु। इसलिए तुम्हारा व्यङ्ग्य भी तात्पर्य ही में अन्तर्निविष्ट हो जाता है।

---

१. इस सम्बन्ध में यह कह देना होगा कि मम्मट आदि ध्वनिवादियों ने इस वाक्य के निषेधरूप अर्थ को व्यङ्ग्य न मानकर तात्पर्य ही माना है। 'विषं भक्षय' वाले वाक्यार्थ का निषेधार्थ वे 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' इस उत्तरार्ध परक मानते हैं तथा 'च' से सम्बद्ध होने के कारण दोनों वाक्यों को उद्देश्यविधेयरूप से सम्बद्ध मान लेते हैं। अतः इस उदाहरण को व्यञ्जना का उदाहरण वे भी नहीं मानते। मम्मट यहाँ तात्पर्य में अश्रूयमाणपदत्व भी नहीं मानते, क्योंकि इस वाक्य के उत्तरार्ध में 'मा चास्य गृहे भुंक्थाः' में निषेध स्पष्टतः वाच्य है।

(देखिये—काव्यप्रकाश उल्लास ५, पृ. २८८)

भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥' इति ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः ?

ध्वनिवादी 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध' वाली प्रसिद्ध गाथा को लेकर निम्न युक्ति के आधार पर तात्पर्यवादी से वाद करता है कि इस गाथा में निषेधरूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता । इस गाथा में वाक्य 'भ्रमिक्रिया' की प्रतीति कराता है । नायिका धार्मिक को 'मजे से घूमो' यही कह रही है । इस गाथा का वाक्य विध्यर्थपरक ही है, अतः तात्पर्य विध्यर्थ में ही होगा । वाक्य में तो स्पष्टतः निषेध का उल्लेख नहीं, वह भ्रमणक्रिया को बोधक पद से ही युक्त है, भ्रमणनिषेध के बोधक पद का वहाँ प्रयोग नहीं है । इसलिए ऐसा वाक्य निषेध परक कैसे हो सकता है ? अतः निषेधपरक अर्थ की प्रतीति तात्पर्य से भिन्न वस्तु है हमारे मत में वह व्यङ्ग्यार्थ है, तथा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य है ।

ध्वनिवादी के मत का खण्डन तथा तात्पर्य वृत्ति की स्थापना का उपसंहार करते हुए धनिक सिद्धान्तपक्ष का निबन्धन कर रहे हैं :—आप लोग 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि गाथा में केवल इसलिए विध्यर्थमात्र को तात्पर्य मान लेते हैं कि वहाँ अपेक्षा की पूर्णता हो जाती है । जब कोई श्रोता इस वाक्य को सुनता है, तो वह विध्यर्थरूप में अर्थ लगा लेता है, तथा उसे वाक्यार्थ पूर्ति के लिये किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं पड़ती । इसलिए ध्वनिवादी इस विध्यर्थ में तात्पर्य की विश्रान्ति मान लेते हैं । ठीक है श्रोता की दृष्टि से यहाँ विश्रान्ति हो भी, तो भी वक्ता (कुलटा नायिका) का अभिप्राय तो विध्यर्थक नहीं है । यदि विध्यर्थक तक ही अर्थ मान लें, तो वक्ता के अभिप्राय की प्रतीति न हो सकेगी, तथा वाक्य का सच्चा अर्थ तो वक्ता का अभिप्राय ही है । जब तक वक्री नायिका का आशय–'तुम वहाँ कभी न जाना, नहीं तो तुम्हें शेर मार डालेगा' ज्ञात नहीं होता, तब तक वाक्यार्थ की अविश्रान्ति क्यों नहीं होगी ? वस्तुतः इस गाथा में वक्री कुलटा नायिका के अभिप्राय को, निषेधरूप अर्थ को, जान लेने पर ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो सकेगी, उसके पूर्व कदापि नहीं ।

कोई भी लौकिक या पौरुषेय वाक्य किसी न किसी विवक्षा पर आश्रित रहता है । जब कोई वक्ता किसी भी वाक्य का प्रयोग करता है, तो वह किसी बात को कहना चाहता है । लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है । ठीक यही बात काव्य में भी घटित होती है । काव्य में रसादि अर्थ (जिन्हें ध्वनिवादी व्यङ्ग्य कहते हैं) काव्य के या कवि के अभिप्रेत हैं, अतः वे तात्पर्य ही हैं ।

अतः यह सिद्ध हो गया है कि काव्य का रस के साथ व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, न तो काव्य व्यञ्जक ही है, न रसादि व्यङ्ग्य ही । तो फिर इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है ? काव्य तथा रस में परस्पर भाव्यभावक भाव या भाव्यभावक सम्बन्ध है । काव्य भावक है, रसादि भाव्य । सहृदय के मानस में स्थायी भाव या रस की चर्वणा होती है, इसी चर्वणा को 'भावना' भी कहते हैं । इसी के आधार पर काव्य भावक है, रस उसके भाव्य । रसादि सहृदय के हृदय में

काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादि-मता काव्येन भाव्यन्ते।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्—भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्। किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात्। तदुक्तम्—

अपने आप ही पैदा होते हैं; तथा तत्तत् रस के अनुकूल विशिष्ट विभावों के द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।[1]

काव्य तथा रस के भाव्यभावक सम्बन्ध के विषय में पूर्वपक्षी एक शङ्का उठा सकता है कि दूसरे शब्दों तथा उनके अर्थों में भाव्यभावक रूप सम्बन्ध नहीं पाया जाता। काव्य के शब्द भी, इतर शब्दों की ही तरह हैं, इसलिए काव्य तथा उनके अर्थ रसादि में भी भाव्यभावक लक्षण सम्बन्ध का अभाव ही होना चाहिए। धनिक का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा यह शङ्का उठाना ठीक नहीं। भावना नामक क्रिया को मानने वाले भावनावादी मीमांसकों ने 'भावना' क्रिया में भाव्यभावक सम्बन्ध माना ही है। उनके मतानुसार 'स्वर्गकामोऽयजेत' या 'पुत्रकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिसञ्चोदित वाक्यों के प्रमाण के अनुसार यागादि क्रिया से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मीमांसक यागादि क्रिया तथा स्वर्गादि फल में 'भावना' क्रिया की कल्पना करते हैं। यागादि क्रिया रूप कारण के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप कार्य निष्पन्न होता है। यागादि क्रिया भावक है, स्वर्गप्राप्ति भाव्य। इस प्रकार मीमांसक दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध को माना ही है, इसलिए यह भाव्यभावक सम्बन्ध की कल्पना शास्त्रानुमोदित है। शब्दों के अन्य लौकिक प्रयोगों में, या अन्य लौकिक स्थलों पर यह भाव्यभावक सम्बन्ध नहीं होता, यह तो काव्य तथा रस के सम्बन्ध में ही घटित होता है। इस बात की पुष्टि काव्य तथा रस के परस्पर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध से हो जाती है। काव्य में रसादि भावक पदों का प्रयोग नहीं होगा तो किसी तरह भी रस की 'भावना (चर्वणा) न हो सकेगी, तथा उसके होने पर सहृदयहृदय में रसादि अवश्य भावित होंगे, इस अन्वयव्यतिरेक सरणि से यह स्पष्ट है कि काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध है।

---

१. काव्य तथा रस के परस्पर सम्बन्ध, एवं विभावादि तथा रसादि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में रसशास्त्र में चार मत विशेष प्रसिद्ध हैं। ये मत भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य के हैं। इन मतों का संक्षिप्त विवेचन इसी ग्रन्थ के भूमिका भाग में द्रष्टव्य है। भट्ट नायक ने व्यञ्जनावादियों का खण्डन करते हुए विभावादि एवं रस में परस्पर 'भोज्यभोजक' सम्बन्ध माना है। उन्होंने इसके लिये अभिधा के अतिरिक्त 'भावना' तथा 'भोजकत्व' इन दो व्यापारों की कल्पना की थी। भट्ट नायक के अनुपलब्ध ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में इसका विवेचन किया गया था। धनिक का काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध मानना भट्ट नायक का ही प्रभाव है। सम्भवतः धनिक को हृदयदर्पण का भी पता हो। वैसे ध्यान से देखने पर पता चलता है कि रस व काव्य के सम्बन्ध के विषय में धनिक का कोई स्वतन्त्र मत नहीं रहा है। वह प्रमुखतः भट्ट लोल्लट के 'दीर्घदीर्घतरव्यापार' तथा भट्ट नायक के भावना व्यापार से प्रभावित हुआ है, जिसमें धनिक ने तात्पर्यशक्ति वाला मत भी मिला दिया है, जो भट्ट लोल्लट का 'दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार' ही है। एक स्थान पर धनिक शङ्कुक के भी ऋणी हैं, जहाँ वे दुष्यन्तादि की 'मृण्मयद्विरद' के समकक्ष रख कर शङ्कुक के 'चित्रतुरगादिन्याय' का ही आश्रय लेते हैं।

'भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥' इति ।

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविध-चेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूत-चेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥ ३८ ॥

जैसा कि कहा भी गया है :—

भाव, भावों तथा अभिनय के द्वारा, अथवा भावों के अभिनय के द्वारा रसों की भावना कराते हैं, इसीलिए नाट्यप्रयोक्ता इन्हें भाव कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि स्थायी भाव रसों की भावना कराते हैं। अतः रस भाव्य है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आधार पर काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

काव्योपात्त पदों से रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति के विषय में पूर्वपक्षी फिर प्रश्न उठाता है कि काव्योपात्त पदों का रत्यादि भावों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, अन्य शब्दों तथा उनके अर्थों में अभिधा व्यापार इसलिए काम करता है कि वे अर्थ उन उन पदों के सङ्केतित अर्थ होते हैं। स्थायी काव्योपात्त शब्दों का सङ्केतित अर्थ तो है ही नहीं। अतः रत्यादि से कोई सम्बन्ध न होने से काव्योपात्त पद स्थायी आदि भावों या रस की प्रतीति कैसे करायेंगे ? इस शङ्का का उत्तर सिद्धान्तपक्षी यों देता है। हम संसार में दो प्रेमियों को देखते हैं, या स्त्री पुरुषों के परस्पर अनुराग को देखते हैं। ये स्त्री पुरुष नाना प्रकार की प्रेमपरक चेष्टाओं से युक्त दिखाई देते हैं। इनकी ये चेष्टाएँ देखकर अविनाभाव सम्बन्ध से हम रत्यादि का भी दर्शन कर लेते हैं। उन अनुरागपूर्ण चेष्टाओं को देखकर हम उनके परस्पर प्रेम को जान लेते हैं। ठीक यही बात काव्य के विषय में कही जा सकती है। काव्य में तत्तत् स्थायी भाव की चेष्टाएँ निबद्ध की जाती हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द इन चेष्टाओं के वाचक हैं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्द के सुनने से चेष्टाओं की प्रतीति होती है और चेष्टाएँ अविनाभाव सम्बन्ध के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव की प्रतीति कराती हैं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दों के श्रवण से अभिधेय चेष्टादि से सम्बन्ध रत्यादि की प्रतीति लाक्षणिक है, उसे लक्षणाशक्तिगम्य मानना होगा। काव्य का वाच्यार्थ रस की भावना कैसे कराता है, इसे हम आगे बतायेंगे।

रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उसका आस्वाद करते हैं, इसलिए लौकिक स्वाद के विषय 'रस' की भाँति यह भी रस कहलाता है। यह रस रसिक सहृदय में ही पाया जाता है, अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता, या शकुन्तला में यह नहीं पाया जाता। रस का स्वाद, रस की चर्वणा रसिकों को, दर्शक सामाजिकों को, ही होती है, अनुकार्य पात्रों को नहीं। अनुकार्य पात्रों की तो केवल कथा भर ली जाती है, काव्य का प्रयोजन सामाजिकों को रसास्वाद कराना ही है। काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के हैं, उन्हें रसचर्वणा हो ही कैसे सकती है। वस्तुतः रसचर्वणा नाटकादि काव्य के द्रष्टा सामाजिक में ही मानी जा सकती है। यदि अनुकार्य रामादि में मानी जायगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे, जैसे हम आमतौर पर व्यावहारिक संसार-क्षेत्र

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९ ॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरननुभूयमानत्वादसत्समतैवाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव ।

में, अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखते हैं। किन्हीं दो प्रेमी प्रेमिका को श्रृङ्गारी चेष्टा करते देख हमें रस प्रतीति नहीं होती, हमें या तो लज्जा होगी, या ईर्ष्या, राग या द्वेष। यदि अनुकार्य दुष्यन्तादि में रस मान लें, तो सामाजिकों को रसास्वाद नहीं हो सकेगा, प्रत्युत उनके हृदय में लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी। श्रृङ्गारी चेष्टा देखकर बड़े लोगों को लज्जा होगी, दूसरों को ईर्ष्यादि। अतः अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक में ही रसस्थिति माननी होगी।

काव्य के वाच्यार्थ के द्वारा उद्भावित रत्यादि स्थायी भाव जो रसिकों के हृदय में रहता है, कारिकाके 'सः' (वह) पद के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। यही भाव जब आस्वाद का विषय बनता है, सामाजिक के हृदय में अलौकिक आनन्दघन चेतना को विकसित करता है, तो रस कहलाता है, क्योंकि वह रसिक सामाजिकों में ही रहता है। नाट्कादि काव्य का प्रत्येक द्रष्टा रसचर्वणा नहीं कर सकता, उसके लिए रसिक (सहृदय) होना आवश्यक है। अतः रस की स्थिति रसिक में ही होती है। रसिक तो वर्तमान है, अनुकार्य रामादि अतीत काल से सम्बद्ध हैं, अतः रस की स्थिति अनुकार्य रामादि में नहीं मानी जा सकती।

कोई कहे कि काव्य में तो अनुकार्य रामादि का वर्णन वर्तमान की तरह ही किया जाता है, तो ठीक है। काव्य में उपात्त शब्दों के द्वारा रामादि अनुकार्य पात्रों का रूप इस तरह उपस्थित किया जाता है कि साक्षात् रूप में वर्तमान न होने पर भी नाट्कादि में वे ही वर्तमान हैं, इस तरह का आभास होता है। कवि तथा सामाजिक दोनों को ही इस प्रकार की प्रतीति इष्ट भी है, (अन्यथा रस प्रतीति न होगी)। इतना होने पर भी रामादि का वर्तमान के रूप में आभास हम लोगों (सामाजिकों) को ही होता है, अतः अनुकार्य रामादि की आस्वाद (रस) की दृष्टि से सत्ता है ही नहीं, आस्वाद की दृष्टि से वे अवर्तमान ही हैं। रामादि का वर्तमान के रूप में वर्णन, विभाव के रूप में किया जाता है, अतः वर्तमान के रूप में अवभास सामाजिकों की रस प्रतीति का कारण (विभाव) है। विभाव रूप में उनका इस प्रकार निबन्धन कवि व सामाजिक दोनों को अभीष्ट है। साथ ही यह भी बात ध्यान देने की है कि (भवभूति आदि) कवि रामादि की रस प्रतीति के लिये काव्य की रचना नहीं करते। कवि काव्य की रचना इसलिए करता है कि उससे सहृदय सामाजिक आनन्दित हों, उन्हें रसास्वाद हो। इस रस का अनुभव समस्त सहृदय के स्वतः प्रमाण का विषय है।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेनाऽविरोधः? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥ ४० ॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहास-

---

अगर यह मान भी लिया जाय कि शृङ्गार (रस) की प्रतीति अनुकार्य रामादि को होता है, तो नाटकादि के दर्शन पर दर्शकों को वैसे ही कोई भी रसास्वाद न होगा, जैसे लौकिक प्रेमी को अपनी कान्ता से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि यह युवक शृङ्गार से युक्त है। रसास्वाद की बात तो जाने दीजिये, ऐसी अवस्था में देखने वाले सज्जन व्यक्तियों को लज्जा होगी, क्योंकि दूसरे लोगों की शृङ्गारी चेष्टा देखना उन्हें पसन्द नहीं। दूसरे विलासी दर्शकों को ईर्ष्या, अनुराग, द्वेष होगा, शायद उन्हें यह भी इच्छा हो कि ऐसी सुन्दर नायिका का अपहरण कर लिया जाय। अतः रस को नायकादि अनुकार्य पात्रों में नहीं माना जा सकता।

इस निष्कर्ष से यह भी निराकृत हो जाता है कि रस व्यङ्ग्य है। रस को व्यङ्ग्य मानने वाले लोगों के मत का खण्डन इस ढङ्ग से भी हो जाता है। व्यञ्जना उसी वस्तु की हो सकती है, जो पहले से ही स्वतन्त्ररूप से विद्यमान हो, तथा किसी दूसरी वस्तु से व्यञ्जित हो। उदाहरण के लिए घट की सत्ता प्रदीप से पहले ही है तथा स्वतन्त्र है, तभी तो प्रदीप घट को (अन्धकार में) व्यञ्जित करता है। रसादि पहले से ही होते तो विभावादि या काव्योपात्त शब्दादि उनकी व्यञ्जना करा सकते थे। अतः रस की पूर्व सत्ता न होने पर, व्यञ्जनावादी उसे व्यङ्ग्य नहीं मान सकते। विभावादि के द्वारा रसों की भावना (आस्वाद या चर्वणा) दर्शकों, सामाजिकों में होती है, यह बात हम पहले ही बता चुके हैं।

सामाजिकों में रस की स्थिति मानने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके विभाव कौन हैं; तथा सीता आदि पूज्य देवियों को शृङ्गारादि का विभाव मानने में दर्शकों के लिये दोष क्यों नहीं होता। इस प्रकार सामाजिकों की रसचर्वणा के विभाव कौन हैं? तथा सीतादि को विभाव मानने में अविरोध कैसे स्थापित होगा? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर निम्न कारिका में दिया जाता है।

नाटकादि में वर्णित अनुकार्य रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतिपादक हैं। ये रामादि सामाजिकों में रत्यादि स्थायी भाव को विभावित करते हैं, रत्यादि स्थायी भाव की प्रतीति में कारण बनते हैं। ये रत्यादि स्थायी भाव ही रसिक सामाजिक के द्वारा आस्वादित किये जाते हैं।

कवि रामादि का वर्णन ठीक उसी तरह से नहीं करते, जैसा पुराणेतिहास में होता है।

वदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणा स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि) दधति ।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः, किं तर्हि

कवि योगियों की तरह ध्यान करके ज्ञानचक्षु के द्वारा रामादि के अतीत चरित्र का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी अवस्था का हू-ब-हू वर्णन ठीक उसी तरह नहीं करते, जैसा इतिहास में पाया जाता है । तो फिर कवि कैसा वर्णन करते हैं ? कवि तो लौकिक व्यवहार के आधार पर ही उनका निबन्धन करते हैं । वे अपनी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से रामादि में तत्तत् प्रकार की उन धीरोदात्तादि अवस्था का चित्रण करते हैं, जो किन्हीं अनुभूत राजादि (आश्रय) में कवि ने देखी है । इस प्रकार कवि अपने ही लौकिक जीवन में प्रत्यक्ष किये राजा आदि में धीरोदात्तादि अवस्था देख कर उसमें कुछ कल्पना का समावेश कर रामादि की अवस्था का निबन्धन करते हैं ।

काव्य में वर्णित वे रामादि ही जब अपने विशेष व्यक्तित्व (रामत्वादि) को छोड़ कर सामान्य (नायकमात्र) रूप धारण कर लेते हैं, तो सहृदय के हृदय में रस प्रतीति कराने के कारण (विभाव) बन जाते हैं ।

कारिका से स्पष्ट है कि सीता, शकुन्तला आदि पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को छोड़कर सामान्य रूप को धारण कर लेते हैं, दूसरे शब्दों में वे साधारणीकृत हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि काव्य में सीतादि शब्द जनकतनयादि के विशेष व्यक्तित्व को छोड़ कर केवल स्त्री मात्र का बोध कराने लगते हैं, यह मान लेने पर उनका किसी भी तरह का अनिष्ट नहीं होगा । तो फिर काव्य में उनका उपादान क्यों होता है ? जब सीता वहाँ परित्यक्त जनकतनयात्व धारण करती है, तो फिर उसके प्रति आदरादि का भाव न हो सकेगा, तथा उससे रसास्वाद भी कैसे होगा ? इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं ?

छोटे बच्चे मिट्टी के बने हुए हाथी, घोड़े आदि से खेलते हैं। वे उन्हें सच्चे हाथी, सच्चे घोड़े ही समझ कर खेलते हैं, तथा उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। ठीक इसी तरह काव्य के श्रोता सामाजिक भी अर्जुन आदि पात्रों के द्वारा उन पात्रों में उत्साह देखकर स्वयं उत्साह का आस्वाद करते हैं। यद्यपि अर्जुनादि, मृण्मय द्विरदादि की तरह ही अवास्तविक हैं केवल प्रतिकृति मात्र हैं, तथापि सामाजिकों को उनसे आनन्द प्राप्ति होती है ।

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि काव्य का शृङ्गार ठीक उसी तरह नहीं है जैसा लौकिक शृङ्गार । लौकिक शृङ्गार में जैसे स्त्री आदि विभावों का प्रयोग होता है, उस तरह काव्य में नहीं होता है । तो फिर यहाँ क्या होता है ? काव्य का रस (नाट्यरस) सांसारिक रस से

प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् ? । यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति ।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

कथं च काव्यात्स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

सर्वथा विलक्षण, तथा भिन्न है, इसको हम बता चुके हैं। जैसे कहा भी है कि नाट्यरस संख्या में केवल आठ ही होते हैं।

नर्तक (नट) को रसास्वाद होता है या नहीं, इस विषय में हमारा मत यह है कि नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है। हम नर्तक के काव्यार्थ भावना-रस-के आस्वाद का निषेध नहीं करते।

नाटकादि में अनुकार्य रामादि के अनुकरणकर्ता नट भी लौकिक रस से रसयुक्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे नाटक में अनुकरण करने वाली महिला को भोग्य रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। अतः उनमें लौकिक रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैसे काव्यार्थ की भावना के द्वारा नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है, पर उस दशा में नर्तक भी हमारी तरह सामाजिक होगा। भाव यह है यदि नर्तक सहृदय है, तो सामाजिक के रूप में, सामाजिक के दृष्टिकोण से, वह रसास्वाद कर सकता है। उसे कथमपि रसास्वाद नहीं होता, ऐसा हमारा मत नहीं है।

काव्य से आनन्द कैसे उत्पन्न होता है, तथा यह आनन्द किस प्रकार का होता है, इसी को स्पष्ट करते हैं :—

काव्यार्थ के ज्ञान के द्वारा आत्मा में (सहृदय के हृदय में) विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना स्वाद कहलाता है। यह स्वाद चार प्रकार का माना जाता है—चित्त का विकास, चित्त का विस्तर, चित्त का क्षोभ, तथा चित्त का विक्षेप। ये चारों प्रकार के मनोविकार-विकास, विस्तर, क्षोभ तथा विक्षेप—क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में पाये जाते हैं। ये चारों मनःप्रकार ही क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय तथा करुण में पाये जाते हैं। इस प्रकार शृङ्गार तथा हास्य में विकास, वीर तथा अद्भुत में विस्तर, बीभत्स तथा भय में क्षोभ, एवं रौद्र तथा करुण में विक्षेप की स्थिति होती है। इसीलिये हास्यादि चार रसों को शृङ्गारादि चार रसों से उत्पन्न माना जाता है, तथा 'आठ ही रस है' इस प्रकार की अवधारणोक्ति भी इसीलिए कही गई है, क्योंकि मन की चार स्थितियों से चार शृङ्गारादि तथा चार तज्जन्य हास्यादि का ही सम्बन्ध घटित होता है, (नौ या दस वाली रस संख्या का नहीं)।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः, तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः, अत एव—

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥'

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः।'

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात्, अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति सम्भेदान्तराणामभावात्।

काव्य का वास्तविक अर्थ विभावादिकों से युक्त स्थायी भाव है, अतः काव्यार्थ शब्द से इस कारिका में विभावादियुक्त स्थायी भाव रूप अर्थ का तात्पर्य है। इस काव्यार्थ के द्वारा सहृदय के चित्त में अनुकार्य रामादि के सदृश अवस्था का संवलन हो जाता है। सहृदय स्थायी भाव रूप काव्यार्थ का अनुशीलन कर 'स्व' तथा 'पर' के विभाग को भूल जाता है, उसका चित्त साधारणीकृत हो जाता है। इस स्थिति में सहृदय को जिस महान् आनन्द की प्रतीति होती है, वही स्वाद (रस) कहलाता है। यह स्वाद वैसे तो सभी रसों में सामान्य रूप से पाया जाता है, फिर भी अलग-अलग रस के अलग ढङ्ग के विभाव पाये जाते हैं, इसलिए इस भेद के कारण सहृदय के चित्त की चार प्रकार की स्थितियाँ पाई जाती हैं। जैसे—शृङ्गार में विकास, वीर में विस्तर, बीभत्स में क्षोभ, तथा रौद्र में विक्षेप। शृङ्गारादि इन चार रसों से इतर हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण इन चार रसों में भी—जिनकी पुष्टि अपने-अपने विभावों के अनुसार होती है—वे ही चार विकासादि चित्तभूमियाँ क्रमशः मिलती हैं। इसीलिए शृङ्गारादि के हास्यादि का कारण इसी सम्भेद के आधार पर माना जाता है।

'शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।'

इस वचन में शृङ्गारादि को क्रमशः हास्यादि का हेतु, तथा हास्यादि को हेतुमान् माना है, इसका केवल यही कारण है कि उनमें एक सी चित्तभूमि पाई जाती है, जो दूसरे रसों में नहीं। इस भेद को बताने के लिए ही इस कार्यकारण भाव का उल्लेख हुआ है। इस कार्यकारण भाव के प्रदर्शन का यह अर्थ नहीं है कि एक उनके कारण हैं, तथा दूसरे कार्य, क्योंकि हास्यादि के कारण (विभाव) शृङ्गारादि के कारणों (विभावों) से सर्वथा भिन्न हैं।

शृङ्गार के अनुकरण को हास्य रस कहते हैं' इस उक्ति के द्वारा विकासादि के सम्भेद को ही स्पष्ट किया गया है। इसीलिए यह अवधारण भी दिया गया है कि 'रसों की संख्या आठ ही होती है;' क्योंकि चार चित्तभूमियों के आठ ही रसभेद हो सकते हैं, नौ या दस नहीं। साथ ही मन की चित्तभूमियाँ भी चार ही प्रकार की पाई जाती हैं।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात् ? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत् किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः, तथा ह्युत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते अतस्तदुच्यते—

रस का स्वरूप, उसकी संख्या, तथा उनकी चित्तभूमियों का निर्देश करने पर रस के आनन्द स्वरूप के विषय में एक प्रश्न उठता है। जैसा कि बताया गया है रस की स्थिति में सहृदय की चित्तवृत्ति अलौकिक आनन्द से युक्त हो जाती है, यही आनन्दास्वाद रस है। जब हम रसों की ओर देखते हैं तो हमें पता चलता है कि शृङ्गार, वीर, हास्य आदि रसों (अद्भुत को भी ले सकते हैं) में देखने वाले को सुख मिलता है। ये रस सुखात्मक हैं अतः इन रसों वाले काव्य के अर्थ से सहृदय के मानस में आनन्दोत्पत्ति होना ठीक भी है। लेकिन यही बात करुण आदि रसों के विषय में कहना ठीक नहीं। दुःखात्मक करुण, बीभत्स, भयानक तथा रौद्र रसों से आनन्दोत्पत्ति कैसे हो सकती है ? पूर्वपक्षी अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहता है कि करुणात्मक काव्य को सुन कर रसिक व्यक्ति आँसू गिराते हैं, रोते हैं, इस प्रकार उनके हृदय में दुःख का आविर्भाव होता ही है। अगर करुणादि को आनन्दरूप माना जाय, वे आनन्दात्मक होते, तो रसिक को उनके आस्वाद के समय रोना नहीं चाहिए।

इसी शङ्का का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक सिद्धान्तपक्ष निबद्ध करते हैं :—

तुम्हारा यह कहना बहुत ठीक है कि करुण काव्यों के श्रवण से रसिक लोगों को दुःख होता है, तथा रोते हैं, आँसू गिराते हैं। पर लौकिक करुणादि से काव्यगत करुणादि का भेद है। काव्यगत करुणादि दुःखपरक होते हुए भी आनन्दात्मक हैं। जैसे सुरत के समय स्त्रियों का कुट्टमित, उनके नखक्षत, दन्तक्षत, प्रहारादि रसिकों को सुख तथा दुःख से मिश्रित आनन्द प्रदान करते हैं, ठीक वैसे ही करुण रस में रसिकों को आनन्द की प्रतीति होती है। साथ ही लौकिक करुण से काव्य का करुण रस भिन्न है, इसीलिए रसिक लोग करुण काव्य के प्रति अत्यधिक प्रवृत्त होते हैं। अगर काव्यगत करुण रस भी लौकिक करुण रस की तरह दुःखात्मक ही होता, तो कोई भी व्यक्ति ऐसे काव्य का अनुशीलन न करता। ऐसा होने पर तो करुण रसपरक काव्यों—रामायण जैसे महाकाव्यों का उच्छेद ही हो जायगा। ऐसे काव्यों की कोई पूछ न होगी। पर बात दूसरी ही है। लोग रामायणादि करुण रसपरक काव्यों को बड़े चाव से पढ़ते सुनते हैं, तथा रसास्वाद ग्रहण करते हैं, अतः करुण रस काव्य भी आनन्दोत्पत्ति अवश्य करते हैं, यह सिद्ध है। वैसे कथा के वर्णन को सुनने पर रसिक सामाजिक दुःख का अनुभव करके आँसू उसी तरह गिराता है, जैसे लौकिक व्यवहार में किसी दुखी व्यक्ति को देख कर हम लोग आँसू गिराते हैं।

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

शान्तो हि यदि तावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयतां श्रुतिरपि—'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

इदानीं विभावादिविषयभावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥ ४६ ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिराल-म्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापार-तया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः = भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

चार भूमियों—विकास, विस्तर, क्षोभ तथा विक्षेप-का ही प्रतिरूप हैं । अतः उनके कारण शान्तरस में चारों प्रकार की चित्तभूमियों का निरूपण किया जा सकता है ।

अब रसादि का विवेचन कर लेने पर प्रकरण का उपसंहार करते हुए विभावादि रूप इतर काव्यव्यापारों का प्रदर्शन करते हैं :—

चन्द्रमा जैसे विभाव, निर्वेद जैसे सञ्चारी भाव तथा रोमाञ्च जैसे अनुभावों के द्वारा भावित स्थायी ही रस है । काव्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ इन्दु (चन्द्रमा) आदि विभावपरक, निर्वेद आदि भावपरक तथा रोमाञ्चादि अङ्गविकारपरक होता है । ये ही चन्द्र, निर्वेद, रोमाञ्च आदि क्रमशः विभाव, सञ्चारी तथा अनुभाव के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके द्वारा जब स्थायी रस भावित होता है, तो वह रस कहलाता है ।[1]

काव्य व्यापार में अतिशयोक्ति के रूप में वर्णित चन्द्रमा, नदीतीर आदि उद्दीपनविभाव, रमणी आदि आलम्बनविभाव, निर्वेदादि व्यभिचारी भाव, रोमाञ्च, अश्रु, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों की ही प्रतीति कराई जाती है । अतः चन्द्रादि जो काव्योपात्त शब्दों के पदार्थ हैं अपने द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध से विभावादि की प्रतीति कराते हैं । ये चन्द्रादि विभावादि ही वाक्यार्थ रूप स्थायी भाव को भावनाविषयक बनाकर आस्वादरूप में प्रतिपन्न करते हैं, तो वह स्थायी भाव रस हो जाता है । भाव यह है सहृदय सामाजिक तत्तत् काव्य में वर्णित चन्द्र, निर्वेद, अश्रु आदि विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभावों को काव्योपात्त पदार्थ के रूप में ग्रहण करता है, फिर ये पदार्थ सहृदय हृदय में स्थित स्थायी भाव को भावनागम्य बनाते हैं और सहृदय सामाजिक को आस्वादरूप आनन्द की प्राप्ति होती है । यही आस्वाद रूप आनन्द रस

---

१. भूमिका भाग में हम देख चुके हैं कि भरत के नाट्यसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' के 'संयोगात्' पद का अर्थ अलग अलग आचार्यों ने अलग-अलग लगाया है । भट्ट लोल्लट के मतानुसार उसका अर्थ है—उत्पाद्य-उत्पादकभाव, शङ्कुक के मत से इसका अर्थ है—अनुमाप्यानुमापकभाव, भट्ट नायक के अनुसार इसका अर्थ 'भोज्यभोजकभाव' है तथा अभिनवगुप्त या ध्वनिवादी के मत में 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव' । धनञ्जय 'संयोगात्' को 'भावितः' पद से स्पष्ट कर 'भाव्यभावकसम्बन्ध' मानते हैं । जिस तरह लोल्लट, शङ्कुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त के मतों को क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद (या व्यक्तिवाद) कहा जाता है, धनञ्जय के रसवादी मत को वैसे ही 'भावनावाद' कहा जा सकता है । पर हम बता चुके हैं कि धनञ्जय तथा धनिक का रससम्बन्धी मत कोई स्वतन्त्र कल्पना नहीं है, अपितु भट्ट लोल्लट तथा भट्ट नायक के मतों की ही खिचड़ी है ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

तत्र तावच्छृङ्गारः—

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ॥
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति कव्युपदेशपरमेतत् ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।

है । अतः रस कुछ नहीं विभावादि के द्वारा भावित (भावनाविषयीकृत) स्थायी भाव की ही परिपुष्ट दशा है ।

अब तक सामान्य रूप से रस तथा स्थायी भाव का विवेचन किया गया । अब आठ स्थायी भावों तथा आठ रसों का विशेष लक्षण निबद्ध करते हैं । भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्थायी भावों तथा रसों का लक्षण अलग-अलग किया है । इसका कारण यह है कि उन्होंने विभावादि के वर्णन के द्वारा उनका वर्णन किया है । विभावादि के द्वारा प्रतिपादन करने के कारण उनका पृथक् पृथक् लक्षण किया गया है । पर यहाँ हम दोनों का एक साथ ही लक्षण करते हैं ।

रस तथा उसके भाव (स्थायी भाव) का विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) एक ही होता है, तथा उसमें कोई भेद नहीं है, अपि तु अभेद है, क्योंकि भाव की ही परिपुष्ट स्थिति रस कही जाती है, अतः उनका लक्षण एक ही किया जाता है । भरत मुनि की तरह अलग-अलग लक्षण नहीं किया गया है ।

सबसे पहले शृङ्गार तथा उसके स्थायी रतिभाव का सोदाहरण लक्षण उपनिबद्ध करते हैं ।

परस्पर अनुरक्त युवक नायक-नायिका के हृदय में, रम्य देश, काल, कला, वेश, भोग, आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है । यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रहर्षित) होकर शृङ्गार रस होता है ।

इस प्रकार रम्य देशादि के द्वारा परिपुष्ट रति के उपनिबद्ध करने पर काव्य से शृङ्गार की चर्वणा होती है, इसलिए यह लक्षण कवियों के उपदेश के लिये किया गया है ।

अब देश, काल आदि की रमणीयता रूप उद्दीपन विभाव को स्पष्ट करते हुए तत्तत् विभाव के द्वारा कैसे रति भाव का स्फुरण तथा शृङ्गार की चर्वणा होती है, इसे उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

देशरूप विभाव का उदाहरण, जैसे उत्तररामचरित नाटक में, निम्न पद्य में राम तथा सीता के परस्पर अनुराग रूप रति भाव की गोदावरीतीर रूप देश के द्वारा शृङ्गार के रूप में चर्वणा हो रही है ।

स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥'

कलाविभावो यथा—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै-
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥'

यथा च—

'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।

कर देने के कारण मजे से रहते हुए, हमारे उन दिनों को तुम याद करती हो न। अथवा सरसतीर वाली गोदावरी को तथा उसके पास हम दोनों के इधर-उधर परिभ्रमण (विहार) को याद करती हो न।

कला विभाव का उदाहरण, जैसे मालविकाग्निमित्र के इस पद्य में, जहाँ मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित स्थायी भाव श्रृङ्गार रस के रूप में परिपुष्ट हो रहा है :—

इस मालविका ने अपने उन हाथों के सञ्चालन के द्वारा भाव के अर्थ की व्यञ्जना ठीक तरह से करा दी है, जिनके सञ्चालन में जैसे शब्द (वचन) छिपे बैठे हैं। जिस तरह शब्द के सुनने पर उसके अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही इसके हस्तसञ्चालन से अर्थव्यञ्जना हो रही है, मानो वचन इसके हाथों में छिपे हैं। जब यह एक क्रिया के बाद थोड़ी देर द्रुत, मध्य या विलम्बित विश्राम (लय)[1] का आश्रय लेती है, तो जैसे इसके पदन्यास ने लय को रस के साथ तन्मय बना दिया है। दर्शक इसके 'लय' तक पहुँचने पर रसमग्न हो जाता है। हस्तसञ्चालन तथा पादन्यास के द्वारा किया गया छः प्रकार का[2] (शारीर, मुखज तथा चेष्टाकृत ये आङ्गिक के तीन प्रकार, तथा वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक) कोमल अभिनय जो शाखा वाला[3] (हाथ के विचित्र सञ्चालन वाला) है प्रत्येक भाव के प्रकाशन के साथ-साथ हृदय में विषयों को प्रेरित कर रहा है। यही अनुराग है, यही रागबन्ध या प्रेम कहा जा सकता है।

अथवा, इस दूसरे उदाहरण में जहाँ सङ्गीत की कला के विभाव का वर्णन पाया जाता है। मृच्छकटिक का पद्य है।

सङ्गीत शास्त्र में प्रसिद्ध दस प्रकार के व्यञ्जन धातुओं पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उद्घृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, बिन्दु तथा अपमृष्ट के द्वारा वीणावादन के समय भाव की व्यञ्जना कराई गई है। वीणावादन में द्रुत, मध्य तथा लम्बित इस प्रकार तीनों तरह की गीत की लय

---

१. लय तीन प्रकार का होता है :—क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः। द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः। द्विगुणाद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ॥

२. आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा। ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः ॥ त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा। तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः ॥

३. विहाय श्रीनभिनयानाङ्गिकोऽत्राभिधीयते। तस्य शाखाङ्कुरो नृत्तं प्रधानं त्रितयं मतम्। तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना ॥ (सङ्गीतरत्नाकर)

गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥'

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

'असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥'

इत्युपक्रमे—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥'

वेषविभावो यथा तत्रैव—

स्पष्ट सुनाई दे रही है। लय के कालभेद में कोई गड़बड़ी नहीं है। वीणावादक ने गोपुच्छ, समा, तथा स्रोतोगता इन तीन प्रकार की यतियों में लय की प्रवृत्ति के नियमों को क्रम से सम्पादित किया है। गोपुच्छादि यतियों के प्रयोग के नियम में कोई क्रमभङ्ग नहीं हुआ है। साथ ही वीणावादन के समय तत्त्व, ओघ तथा अनुगत इन तीन प्रकार की वाद्यविधियों को भी अच्छी तरह दर्शाया है। इस प्रकार समस्त व्यञ्जन धातुओं का, लय के त्रिप्रकार का, तीन तरह की यतियों तथा वाद्यविधियों का प्रयोग बता रहा है कि वीणा बजाने वाला व्यक्ति वीणावादन की कला में अत्यधिक निपुण है।

काल (समय) के विभावपक्ष का उदाहरण, जैसे कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में वसन्त के आविर्भाव के वर्णन में वसन्त के कारण पशुओं तक में रतिभाव के सञ्चार का वर्णन—

हिमालय प्रदेश में शिवजी के आश्रम के आसपास वसन्त के फैल जाने पर अशोक के वृक्ष ने शाखाओं के कंधों तक पल्लवों तथा पुष्पों को एकदम उत्पन्न कर दिया। उस अशोक वृक्ष ने नूपुर से झंकृत सुन्दरियों के चरण की भी अपेक्षा न की। प्रायः यह प्रसिद्ध है कि अशोक में पुष्पोत्पत्ति रूप दोहद रमणियों के चरणाघात के कारण होता है। जैसा कि कहा भी जाता है— 'पादाघातादशोकः'। अतः रमणियों के चरणाघात का होना आवश्यक है। किन्तु शिवजी को पार्वती के प्रति आकृष्ट करने के लिए प्रस्थित काम की सहायता करने वाला वसन्त इस तरह से हिमालय में फैल गया कि वसन्त के सारे चिह्न एकदम उपस्थित हो गये। अशोक के पल्लव तथा पुष्प, जिनका आविर्भाव वसन्त ऋतु में होता है, निकल आये, तथा उनने सुन्दरियों के पादाघात की भी प्रतीक्षा न की।

काम के सखा वसन्त के वन में फैल जाने पर पशु-पक्षियों में भी रति का सञ्चार होने लगा, (मनुष्यों की तो बात ही निराली है)। भँवरा अपनी प्रिया के साथ रह कर फूल के एक ही पात्र से पराग या शहद का पान करने लगा, ठीक वैसे ही जैसे कोई विलासी युवक अपनी प्रिया के साथ एक ही चषक से मधुपान करता है। काला हिरण अपने स्पर्श के कारण बन्द आँखों वाली (जिसने आँखें बन्द कर ली हैं) मृगी को अपने सींग से खुजलाने लगा। यहाँ भ्रमर तथा भ्रमरी का एक पुष्प-पात्र से मधुपान करना, तथा मृग का मृगी को अपने सींग से खुजलाना तथा मृगी का उसके स्पर्श को पाकर आँखें बन्द कर लेना शृङ्गार रस के ही अनुभाव हैं।

वेष का विभाव, जैसे कुमारसम्भव के निम्न उदाहरण में पार्वतीरूप आलम्बन के वेष उद्दीपन विभाव का वर्णन किया गया है, जो शिव के मानस में रति को पुष्ट करता है :—

'अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥'

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥'

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

जब पार्वती शिव के चरणों में सूखे कमलबीजों की माला रखने आई, तो उसने वसन्त ऋतु के विकसित पुष्पों के आभूषणों को पहन रक्खा था। उसके ये आभूषण, जो वासन्ती कुसुमों के थे सुवर्ण या रत्नों के आभूषणों से भी बढ़ कर मनोहर थे। उसने जिन अशोक पुष्पों को पहन रक्खा था, वे पद्मराग मणि की शोभा को भी लज्जित कर रहे थे। अशोक का फूल भी लाल होता है, पद्मराग मणि भी लाल। उसके वसन्ताभरण के कर्णिकार पुष्पों ने सोने की कान्ति को खींच लिया था। ये दोनों पीले रंग के होते हैं। तथा सिन्दुवार के फूलों के द्वारा उसने मोतियों की माला बना रक्खी थी। इस तरह अशोक, कर्णिकार तथा सिन्दुवार के कुसुमों से बना पार्वती का आभरण (वसन्ताभरण) पद्मराग, सुवर्ण तथा मोतियों के बने आभूषणों-सा लग रहा था, वैसा ही नहीं, किन्तु उससे भी कहीं बढ़ चढ़ कर।

उपभोग-विभाव, जहाँ नायक या नायिका के उपभोग विभाव के द्वारा उनकी रति की व्यञ्जना हो। जैसे निम्न पद्य में—

कोई नायिका नायक से दुखी थी। पर रात के समय नायक ने बड़ी मान मनौती करके उसका गुस्सा हलका कर दिया। फलतः दोनों रतिक्रीडा में भी प्रवृत्त हुए। सुबह नायिका की सखी ने उसके शरीर पर रति के चिह्न देखे, तथा यह अनुमान लगा लिया कि नायक ने उसे खुश कर लिया है। इसी बात को सखी नायिका से कह रही है।

हे *तरुणि, तुम्हारी आँखों का कज्जल-कण* लुप्त हो चुका है, तुम्हारी आँखों का सारा कज्जल तो नहीं, पर उसका कुछ हिस्सा मिट गया है, यह रति से ही हो सकता है। तुम्हारे नीचे के ओठ (अधर, न कि ऊपर का ओठ) की ताम्बूल के कारण उत्पन्न ललाई जैसे किसी ने निगल ली है, अर्थात् अधर का ताम्बूलराग भी नष्ट हो गया है। तुम्हारी कबरी (केशपाश) कपोल पर इस तरह पड़ी है, जैसे थक गई हो (रति के कारण तुम ही नहीं, तुम्हारी कबरी भी थक गई); तुम्हारे केश असंयत हैं और तुम्हारे *शरीर की कान्ति भी जैसे नष्ट हो गई है*; शरीर की शोभा भी मन्द पड़ गई है। ये सारी बातें बताती हैं कि रात को तुमने नायक के साथ सुरतक्रीडा की है। पर तुम तो कल मान किये बैठी थी न ? ऐसा प्रतीत होता है, मेरा यह अनुमान है कि हे मानिनि, तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायों द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बढ़ा हुआ (उगा हुआ) मान का बड़ा वृक्ष आखिर तोड़ ही गिराया। इन सारे चिह्नों से यह स्पष्ट है कि नायक ने किसी न किसी तरह तुम्हारे गुस्से को हटा ही दिया।

शृङ्गार के लक्षण में यह बताया गया है कि रति स्थायी भाव में आत्मा (हृदय) प्रसन्न रहता है, वह उल्लसित होता है। अतः रति भाव की इसी विशेषता को उदाहृत करते हैं। मालती को देखने पर माधव की दशा के वर्णन के द्वारा रति के इस प्रमोदात्मत्व को स्पष्ट करते हैं :—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येतान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः॥'

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः॥'

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।

मन को प्रसन्न करने वाले, उसमें मद का सञ्चार करने वाले कई सुन्दर भाव संसार में देखे जाते हैं। नवीन चन्द्रमा की कला जैसे स्वाभाविक चातुर्य वाले अनेकों दूसरे भाव उत्कृष्ट हैं; जिनसे लोगों का मन मस्त हो उठता है। लोग उन्हें देखकर अपनी आँखों का उत्सव मनाते हैं। पर मेरे विषय में बात ही दूसरी है। मेरे दृष्टिपथ में तो चन्द्रिका के समान नेत्रों को आह्लादित करने वाली यह मालती अवतरित हो गई है। इसलिए मालती का नयनों का विषय बनना मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है। मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जन्म में मेरे लिए केवल एक ही बात महान् उत्सव की रही है और वह है मालती का मेरी आँखों के आगे से गुजरना।

युवतिविभाव, जहाँ नायिका के यौवन का उसके युवतित्व का वर्णन किया जाय। जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में नाचती हुई मालविका की मुद्रा का तथा उसके द्वारा स्पष्ट दिखाई पड़ते उसके यौवन का वर्णन—

नाचती हुई मालविका को देख कर अग्निमित्र कह रहा है—इसका मुख शरत् के चन्द्रमा के समान सुन्दर है, जिसमें लम्बी-लम्बी आँखें हैं। इसके दोनों हाथ कन्धों के पास से झुके हुए हैं, तथा इसका वक्षःस्थल सङ्कुचित हो रहा है, जिससे निबिड़ (घने) तथा उठे हुए स्तन दिखाई देते हैं, एवं इसके दोनों पार्श्वभाग सिमटे से हैं। मालविका का मध्यभाग (कमर) इतना पतला है, कि पाणि (मुट्ठी) से नापा जा सकता है, इसका जघनस्थल नितम्ब के भारीपन के कारण उभरा हुआ है, तथा इसके दोनों पैरों की अङ्गुलियाँ गति की (यौवनाविर्भाव के कारण, या नृत्य के कारण जनित) अस्तव्यस्तता से कुटिल (टेढ़ी) हो रही हैं। इसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है, ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप इसका शरीर बना हुआ है।

दोनों युवकों—नायकनायिकाओं—का विभाव, जहाँ दोनों के यौवन का वर्णन किया जाय। जैसे मालतीमाधव के प्रथम अङ्क का निम्न पद्य, जहाँ माधव तथा मालती दोनों के यौवन का वर्णन किया गया है :—

समीप की गली से बार-बार घूमते हुए, साक्षात् अभिनव काम के समान सुन्दर माधव को

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं य-
द्गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥'

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥'

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥'

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।

महल के ऊँचे छज्ज से बार बार देख कर रति के समान सुन्दर मालती अत्यधिक उत्कण्ठित होकर अपने कोमल तथा सुन्दर अङ्गों से पीडित रहती है। सुन्दर माधव को देख-देख कर सुन्दरी मालती उसके प्रति आकृष्ट हो गई है, तथा उसकी प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित है, तथा इस उत्कण्ठा के कारण उसके अङ्ग विरहपीडा से पीडित हैं।

नायक तथा नायिका का परस्पर अनुराग, जैसे वहीं मालतीमाधव में।

माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है। टेढ़ी टहनी वाले कमल के समान सुन्दर टेढ़ी गर्दन वाले मुख को धारण कर, जाती हुई उस सुन्दर नेत्रों वाली मालती ने एक साथ अमृत तथा विष से बुझा हुआ कटाक्ष (बाण) जैसे मेरे हृदय में खूब गहरा गडा दिया हो। जब टेढ़ी गर्दन करके चलती हुई मालती ने मेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखा, तो मुझे आनन्द भी हुआ, तथा पीडा भी; मुझे एक साथ अमृत तथा विष से बुझे बाण की चोट का अनुभव हुआ, जैसे मेरा हृदय एक मधुमय पीडा का अनुभव कर रहा हो।

अङ्गों की मधुर चेष्टाएँ, जैसे मालतीमाधव में ही मालती की मधुर चेष्टाओं का वर्णन—

मालती के दृष्टिपातों का मैं अनेक प्रकार से पात्र बना। मेरी ओर कई ढङ्ग से मालती ने देखा। मालती के ये दृष्टिपात कभी बन्द होते थे, और फिर विकसित हो जाते थे, उसकी भौंहों की लताएँ सुशोभित हो रही थीं, तथा उसके वे नेत्र कोमल, स्निग्ध तथा कुछ-कुछ बन्द थे। मालती के वे नेत्रपात कोनों पर विस्तार वाले थे, अर्थात् कानों तक फैले हुए नेत्रों के कोनों (कनखियों) से वह देखती थी, एवं प्रत्येक नयनपात के बाद वे कुछ-कुछ आकुञ्चित हो जाते (सिमिट जाते) थे। मालती ने भौंहें नचा कर दीर्घ नेत्रों के द्वारा स्निग्ध तथा कभी मन्द होते एवं कभी विकसित होते कटाक्षपात को नाना प्रकार से मेरी ओर किया।

आठ सत्त्वज (सात्त्विक) भाव, आठ स्थायी भाव, और तेंतीस व्यभिचारी भावों—इन ४९ भावों का काव्य में युक्तिपूर्वक नियन्धन शृङ्गार की पुष्टि करता है। शृङ्गार के अङ्ग रूप में इन ४९ भावों का युक्तियुक्त नियन्धन हो सकता है। किन्तु इस विषय में

एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति । (स्थायिनम्)
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४९ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत् । युक्त्या = अङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति । आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव ।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि—दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्राऽयोगोनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥

एक बात ध्यान रखने की है कि आलस्य, औग्रय तथा मरण नामक सञ्चारी तथा जुगुप्सा नामक स्थायी का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर किया गया उपनिबन्धन विरोधी होता है।

तैंतीस व्यभिचारी, आठ स्थायी तथा आठ सात्त्विक भाव ये ४९ भाव हैं। युक्ति का अर्थ है अङ्गरूप में उपनिबद्ध होना। अङ्गरूप में निबद्ध होने पर ये श्रृङ्गार रस की परिपुष्टि करते हैं। आलस्य, औग्रय, मरण, जुगुप्सा आदि का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर निबन्धन, अथवा उन्हें रस का साक्षात् अङ्ग बना देना श्रृङ्गार रस के विरुद्ध पड़ता है। अन्य प्रकार से निबन्धन करने पर विरोध नहीं होगा, इसे हम बता चुके हैं।

श्रृङ्गार का विवेचन कर लेने पर अब श्रृङ्गार के विभाजन का उल्लेख करते हैं :—

श्रृङ्गार रस तीन प्रकार का होता है :—अयोग, विप्रयोग तथा संयोग।

विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि विप्रलम्भ सामान्यतः नायक व नायिका के संयोगाभाव को ही अभिहित करता है। उसके दो विशेष प्रकार पाये जाते हैं—अयोग (जो कि नायक-नायिका में पूर्वानुराग की अवस्था में पाया जाता है), तथा विप्रयोग। विप्रलम्भ शब्द इतना सामान्य है कि कहीं उसका उपचार के द्वारा दूसरा अर्थ 'प्रवञ्चनारूप' अर्थ न ले लिया जाय, इसलिए भी अयोग तथा विप्रयोग को अलग अलग बताया गया है। जैसा कि प्रसिद्ध है, विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग, संकेत स्थल पर का वादा करके नायक के न पहुँचने पर तथा नायिका के वहाँ पहुँचने पर नायककृत प्रवञ्चना के लिये देखा जाता है। विप्रलम्भ का मुख्य प्रयोग यही है। इसीलिए ऐसी नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं। अतः कहीं यह अर्थ न ले लिया जाय, इसलिए 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग बचाया गया है।

अयोग श्रृङ्गार की स्थिति वह है, जहाँ दो नवयुवकों (नायक-नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग होता है, उनका चित्त एक दूसरे के प्रति आकृष्ट रहता है,

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः—पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्यायत्तत्वा-त्सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोगः ।

दशावस्थः स तत्रादावभिलापोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥
अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

किन्तु परतन्त्रता (पिता, माता आदि के कारण), या दैव के कारण, वे एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका सङ्गम नहीं हो पाता। अयोग शृङ्गार की स्थिति में दोनों में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, पर उनका मिलन किन्हीं कारणों से नहीं हो पाता।

योग का अर्थ है नायक-नायिका का परस्पर समागम। इस समागम के अभाव को ही अयोग कहते हैं। यह अयोग या तो पिता-आदि के आधीन होने के कारण, परतन्त्र होने के कारण होता है, पित्रादि की अनुमति न होने से यह समागम नहीं हो पाता। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका देवी वासवदत्ता के अधीन है, अतः वहाँ दोनों का योग वासवदत्ता की परतन्त्रता के कारण नहीं हो पाता। मालतीमाधव की मालती पिता के अधीन है, तथा उसके पिता की माधव के कुल से शत्रुता है, अतः यहाँ भी पारतन्त्र्य के कारण प्रारम्भ में अयोग दशा ही रहती है। दैव के कारण नायक-नायिका के अयोग का उदाहरण शिव तथा पार्वती के अयोग को ले सकते हैं, जहाँ शिव के प्रतिज्ञा कर लेने के कारण दैववश दोनों का समागम नहीं हो पाता, जैसा कि कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग तक उपनिबद्ध हुआ है।

इस अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएँ होती हैं :—अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता तथा मरण। इनकी प्रत्येक उत्तर अवस्था पहले से अधिक तीव्र होती है। अभिलाष वह अवस्था है जब कि सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की समागमरूप इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर या उसके चित्र को देखने पर, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती है। नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है। अथवा वह सखियों आदि के गीत या मागध आदि के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है।

अभिलाष का उदाहरण, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला को देखने पर दुष्यन्त की उसके प्रति इच्छा हो जाती है :—

यह सुन्दरी तापसकन्या निःसंदेह क्षत्रिय के द्वारा परिणयन के योग्य है, क्योंकि मेरा पवित्र

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥'

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥'

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

'सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥'

मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है। सन्देह के स्थलों में उत्कृष्ट तथा पवित्र चरित्र वाले व्यक्तियों की अन्तःकरण-वृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं। मुझे अब तक इसके विषय में यह सन्देह था कि यह ब्राह्मणकन्या है या क्षत्रियकन्या है। यदि यह ब्राह्मणकन्या होती, तो क्षत्रिय इससे विवाह कर नहीं सकता, पर मेरा मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है। मेरा मन अत्यधिक पवित्र है, अतः मेरा मन इस बात का प्रमाण है कि यह क्षत्रिय के द्वारा विवाह करने योग्य अवश्य है।

विस्मय (आश्चर्य) का उदाहरण, जैसे—

उस कोमल अङ्गों वाली सुन्दरी के स्तनों को देखकर (वह) युवक सिर को कँपाने लगता है, मानो उसके स्तनों के बीच में फँसी हुई अपनी दृष्टि को जबर्दस्ती बाहर निकाल रहा हो। उस नायिका के स्तनों का विस्तार-भार तथा उसके द्वारा अनुमित काठिन्य की कल्पना कर तथा उनके आलिंगनयोग्यत्व को जान कर युवक अत्यधिक आश्चर्यचकित हो जाता है, वह आश्चर्य से सिर हिलाने लगता है।

आनन्द, जैसे राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका नाटिका में नायक-नायिका को देखकर आनन्दित हो जाता है। इसकी व्यञ्जना नायक की इस उक्ति से हो रही है :—

जरा इस परकोटे के अगले हिस्से पर तो दृष्टि डालो। कुछ अनुमान तो लगाओ कि आकाश के बिना ही, इस परकोटे पर बिना हिरणवाला (जिसका हिरण का कलङ्क गल गया है), यह चन्द्रमा कौन है। यह चन्द्रमा चारों ओर स्वच्छ चाँदनी को छिटका रहा है और लवलीलता के पके फलों के समान श्वेत उन चन्द्रिका को अमृत का ग्रास समझ कर ग्रहण करने वाले, उपवन के चकोरों के द्वारा उसका पान किया गया है।

यहाँ नायिका के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखमण्डल को देखकर नायक यह तर्क कर रहा है कि आकाश के बिना ही परकोटे पर चन्द्रमा कैसे हो सकता है और वह भी फिर निष्कलङ्क चन्द्रमा। नायिका के मुख को चन्द्रमा समझ कर तथा उसकी कान्ति को चन्द्रिका समझ कर उपवन के चकोर उसकी ओर टकटकी लगाये हैं या उसकी कान्ति का पान कर रहे हैं, इसके द्वारा भ्रान्तिमान् अलङ्कार की प्रतीति होती है।

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥'

यथा वा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥'

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ॥ ५५ ॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलापाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥'

अयोग की दशा में छिपकर अनुराग किया जाता है तथा दूसरी जो बातें पाई जाती हैं, उनका ज्ञान वात्स्यायन के कामसूत्र से प्राप्त करना चाहिए।

विप्रयोग या वियोग शृङ्गार में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागमाभाव एक बार समागम हो लेने के बाद की दशा का है। यह वियोग या तो बहुत अधिक (रूढ) हो सकता है, या खाली प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। इसके अनुसार यह दो तरह का हो जाता है प्रवास रूप वियोग, जो रूढ होता है, जब कि नायक विदेश में होता है, तथा मानरूप वियोग, जब प्रियकृत अपराध के कारण नायिका मान किये बैठी रहती है। मानपरक वियोग या तो प्रेम के कारण होता है या ईर्ष्या के कारण।

मिले हुए नायक-नायिका का अलग हो जाना विप्रयोग (वियोग) कहलाता है। इसके दो भेद हैं :—मान तथा प्रवास। मान भी दो तरह का होता है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान।

नायक-नायिका में से एक के या दोनों के कोपयुक्त होने पर, क्रुद्ध रहने पर प्रणयमान वाला विप्रयोग होता है।

प्रेमपूर्वक दूसरे को वश में करना प्रणय कहलाता है। इस प्रणय को भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान कहलाता है। वह नायक तथा नायिका में पाया जाता है। नायक के प्रणयमान का उदाहरण, जैसे उत्तररामचरित के इस पद्य में राम का मान—

वनदेवी वासन्ती राम को पुरानी बातें याद दिला रही है। ठीक इसी लताकुञ्ज में तुम सीता के मार्ग को देखते हुए, उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उधर गोदावरी के तीर पर गई हुई सीता, नदी की रेती पर हंसों से खेलने लग गई थी और इसीलिए देर हो गई थी। जब वह लौटकर आई तो उसने तुम्हें इस तरह देखा, जैसे तुम क्रुद्ध से हो। इसलिए तुम्हें प्रसन्न करने के लिए उस सीता ने कातरता के साथ कमल की कली के समान हाथों की अञ्जलि बाँध कर तुम्हें भोले ढङ्ग से प्रणाम किया था।

---

१. 'कोपावेशितयोः' इति पाठान्तरम् ।

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

उभयः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइत्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥'
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥')

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९ ॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि
स्वकान्ते उपलब्धे सत्यन्यासङ्गः श्रुतो

वाऽनुमितो दृष्टो वा (यदि) स्यात् । तत्र

श्रवणं सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वाच्च ।

यथा ममैव—

'सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥'

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥'

अन्य नायिका का नाम ले ले, या फिर नायिका उसके शरीर पर अन्य स्त्री-भोग के चिह्न देख ले या नायक गलती से ज्येष्ठा को पुकारते समय उस कनिष्ठा का नाम ले बैठे (गोत्र-स्खलित कर बैठे)। उसका अन्य नायिका से प्रेम दृष्टरूप में तब होगा कि जब कि नायिका स्वयं अपनी आँखों से देखे या कानों से उन्हें प्रेमालाप करते हुए सुन ले ।

ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है (नायकों में नहीं)। नायक को किसी दूसरी नायिका को प्रेम करते देखकर, सुनकर या अनुमान करके यह ईर्ष्यामान होता है । इसमें सुनना सखी के वचनों से होगा, क्योंकि सखी विश्वस्त होती है, इसलिए झूठ नहीं कह सकती ।

मानवती नायिका को नायक कह रहा है । हे सुन्दर भौंहें वाली सुन्दरी, बता तो सही बुरी सलाह देने वाले किस व्यक्ति ने जो बाहर से मीठी-मीठी बातें करने वाला है और झूठे ही तुम्हारा प्रिय करने वाला है, तुम्हारे प्रिय कार्य करने का दिखावा करता है, मक्खन के समान कोमल हृदय वाली तुम्हें हमारे प्रति मानवती (चण्डी) बना दिया है । जरा तुम यह तो सोच लो, कि तुम्हारे सारे प्रिय व्यक्तियों में तुम्हारा सच्चा हितैषी कौन है—तुम्हारा सच्चा हितैषी, तुम्हारी धाय की लड़की है, या हम हैं, या फिर तुम्हारी सखी है, या हमारे मित्र ।

उत्स्वप्नायित, जहाँ नायक स्वप्न में नायिका का नाम ले बैठे, और नायिका उसे सुन ले । जैसे, रुद्र कवि के इस पद्य में—

पानी में डूबे हुए मैंने काम के बोझे के कारण किसी तरह उस सखी का आलिङ्गन कर लिया था, हे राधे, तुमसे यह झूठी बात कि मेरा प्रेम उस सखी से है, किसने कह दी, तुम बिना बात ही क्यों दुःखी हो रही हो । निद्रा के समय स्वप्न में कहे गये विष्णु (कृष्ण) के इन वचनों को सुनकर किसी न किसी बहाने से लक्ष्मी (रुक्मिणी) ने अपने हाथ को उनके कण्ठ से हटा लिया, कण्ठग्रह को शिथिल कर दिया । इस तरह से कमला के द्वारा शिथिलित विष्णु का कण्ठग्रह तुम्हारी रक्षा करे ।

भोगाङ्कानुमितो यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥'
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥')

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

एषाम्—

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।

भोगाङ्कानुमित अन्यासक्ति, जैसे शिशुपालवध के एकादश सर्ग के इस पद्य में—

कोई नायिका अपराधी नायक के शरीर पर परस्त्री सम्भोग के चिह्न देखकर उसे झिड़कती कह रही है। तुम इस वस्त्र से नायिका के नखक्षत से युक्त अङ्ग को छिपा रहे हो; तथा उसके दाँतों से काटे हुए अधरोष्ठ को हाथ से ढक रहे हो। पर यह तो बताओ, अन्य स्त्री सम्भोग की सूचना देता हुआ, चारों दिशाओं में फैलता हुआ यह नवीन सुगन्ध किस ढङ्ग से छिपाया जा सकता है। यह गन्ध ही बता रहा है कि तुम अन्य नायिका का उपभोग करके आ रहे हो।

गोत्रस्खलन के द्वारा अनुमित अन्यासक्ति, जैसे निम्न गाथा में—

कोई नायिका नायक के गोत्रस्खलन को सुनकर रोने लगी है। यह देखकर सखी कह रही है। हे अन्यासक्त दुष्ट, मजाक तो देखो, तुम्हारी पत्नी सचमुच की तरह रो रही है क्रीडा के समय तुम्हारे गोत्रस्खलन के कारण, छल को न जानती हुई वह मान कर रही है।

दृष्ट अन्यासक्ति, जैसे वाक्पतिराज मुञ्ज का यह पद्य—

तीनों लोकों के पूज्य महादेव ने जब देवी पार्वती को प्रणयमान के कारण कुपित देखा, तो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से युक्त होकर, डर के मारे सिर झुकाकर, एकदम प्रणाम करने लगे, जिससे पार्वती प्रसन्न हो जाय। पर महादेव के सिर को नीचा कर लेने पर, पार्वती ने गङ्गा (पार्वती की सौत) को देख लिया। तब तो वह और अधिक कुपित हो गई, तथा उसने अपने चरण को महादेव के सिर पर मार गिराया। इससे महादेव बड़े लज्जित हुए। तीन आँखों वाले महादेव का यह लज्जित होना आप लोगों की रक्षा करे।

श्रुत से लेकर दृष्ट अन्यासक्ति तक प्रत्येक परवर्ती प्रमाण से सिद्ध नायक की अन्या-

साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एषाम् = श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः = क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तम् = मानम् । उपाचरेत् = निवारयेत् ॥ ६ ॥

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव—

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥'

यथा वा—

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥'

सक्ति पूर्ववर्ती से अधिक कठिन होती है। नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः तरह से हटाया जा सकता है—साम, भेद, दान, नति (प्रणाम), उपेक्षा, या रसान्तर (अन्य रस के द्वारा)। मधुर प्रिय वचनों का प्रयोग साम नामक उपाय है। उसकी सखी का सहारा लेना भेद है, तथा गहने आदि के बहाने खुश कर लेना दान है। पैरों पर गिरना नति कहलाता है। यदि सामादि चार उपाय काम न करें तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना, उपेक्षा कहलाता है। शीघ्रता में उत्पन्न भय तथा हर्ष आदि के द्वारा कोप को नष्ट कर देना रसान्तर कहलाता है। स्त्रियों की कोपचेष्टाओं का वर्णन तो हम बता ही चुके हैं।

प्रिय वचनों का प्रयोग साम कहलाता है, जैसे धनिक का स्वयं का यह पद्य—

हे सुन्दर अङ्गों वाली प्रिये, तेरा मुखरूपी चन्द्रमा सारे संसार को अपनी मुस्कराहट की चाँदनी से श्वेत बना देता है, तेरी दृष्टि जैसे चारों तरफ अमृत का झरना गिराती है, तेरा यह शरीर सब दिशाओं में मधुरसौन्दर्य (लावण्य) को बिखेर रहा है। इन सब बातों को देखते आश्चर्य होता है कि आज तेरे हृदय के साथ कठोरता का सम्बन्ध कहाँ से हो गया ?

अथवा, जैसे इस पद्य में—

हे सुन्दरी, उस ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नील कमल से, मुख को लाल कमल से, दाँतों को कुन्द-कली से, अधर को नई लाल कोपल से, तथा अङ्गों को चम्पे की पंखुड़ियों से बनाकर हृदय (चित्त) को पत्थर से कैसे बनाया ?

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः॥'

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

'मुहुरुपहसितामिवालिनादै-
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम्।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः॥'

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

'णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअं त्ति चिअ कहेइ॥
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति॥)

नायिका की सखी के द्वारा उसे वश में करने की चेष्टा भेद कहलाता है। भेद का उदाहरण जैसे धनिक का ही निम्न पद्य—

नायक मानवती नायिका से कह रहा है। हे सुन्दर भौंहों वाली रमणी, आज्ञा का भङ्ग कर देने पर भी मैंने किसी तरह तुम्हें कई बार प्रणाम किया था और तब तुम हँसकर गुस्से को हाथों हाथ छोड़ देती थीं। ऐसा अनेकों बार हुआ है। पर इस बार तो पता नहीं, तुम्हारा यह गुस्सा दूसरे ही ढङ्ग का है, यह अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा तथा निःसीम दिखाई पड़ रहा है, जिस क्रोध में प्रिय सखियों के मधुर स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो गये हैं। पहले तो मैं चरणों में गिरकर ही तुम्हें खुश कर लिया करता था, पर इस बार तो सखियों का अनुनय भी व्यर्थ हो रहा है, पता नहीं आज ऐसी अधिक क्रुद्ध क्यों हो रही हो?

आभूषण आदि के बहाने से दान के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा, जैसे शिशुपाल वध के सप्तम सर्ग में—

कोई नायक रात भर दूसरी नायिका के पास रहा। जब वह लौटकर आया तो नायिका मान किये थी। उसे प्रसन्न करने के लिये वह किसी लता की कलिका को उसको सजाने के लिए देना चाहता है। उसे कलिका देते हुए देखकर ज्येष्ठा नायिका व्यङ्ग्य सुनाते हुए कह रही है—हे शठ, भँवरों के गुञ्जन से मानो उपहसित (जिसकी हँसी उड़ाई गई है), इस कली को हमें बार-बार क्यों दे रहा है? अरे दुष्ट, उस नायिका के घर पर रात भर रह कर तूने पहले ही हमें इस महान् दुःख तथा क्लेश को (कलि को) दे दिया है।

नायिका के पैरों पर गिरना नति कहलाता है—जैसे इस गाथा में—

प्रिया के पैरों पर गिरे हुए, प्रिय के केश, जो प्रिया के नूपुरों में उलझ गये हैं, इस बात की सूचना दे रहे हैं, कि नायिका के मानी हृदय को अब मान से छुटकारा मिल गया है।

उपेक्षा तदवधीरणं यथा—

'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥'

रभसत्रासहर्षादि रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम्।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥'

अथ प्रवासविप्रयोगः—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

प्रिया के प्रति उदासीनता दर्शाना उपेक्षा कहलाता है, जैसे—

किसी नायिका के पास अपराधी प्रियं आता है, पर वह मान किये बैठी है। उसे मनाने के लिये नायक अनेक उपाय करता है, पर व्यर्थ जाते हैं। तब वह वहाँ से उपेक्षा दिखाकर चला जाता है। उसके चले जाने पर नायिका का मान ठण्डा पड़ता है और वह अपनी सखी (दूती) को उसे बुलाकर लाने को कह रही है। वह चला भी गया तो क्या, उसके पास जाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसने अपराध किया है। पर इतना होने पर भी वह समर्थ है, सब कुछ उचित अनुचित कार्य कर सकता है। इसलिए समर्थ के प्रति कठोरता दिखाना, उसके प्रति अब भी मान किये बैठा रहना, ठीक नहीं है। हे सखि, तुम जाओ और किसी तरह उसे मना कर ले आओ, अथवा हम लोगों का अपराध करने वाले व्यक्ति (नायक) को मनाया भी कैसे जा सकता है?

भय, हर्ष आदि के द्वारा किसी दूसरे रस की उत्पत्ति के कारण क्रोध का शान्त होना; जैसे धनिक का यह स्वरचित पद्य—

नायका का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिए नायिका बड़ा मान किये है। नायक कई प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल होता है। इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोच-विचार करता है। फिर तरीका सोच लेने पर एक दम झूठे डर का बड़ी निपुणता से बहाना करके वह 'यह पीछे क्या है, यह इधर पीछे क्या है' इस तरह नायिका को एक दम डरा देता है। इससे डर कर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आलिङ्गन करती हुई नायिका का आलिङ्गन करता है।

अब प्रवासजनित विप्रयोग का लक्षण निबद्ध करते हैं:—

किसी काम से, किसी गड़बड़ी से, या शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-अलग रहना, उनका भिन्न-भिन्न देश में स्थित होना, प्रवास विप्रयोग है। इसमें नायक तथा नायिका दोनों ही में अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, बालों का न सँवारे जाने के कारण लम्बा होना, आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास विप्रयोग तीन तरह का होता है-

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥'

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्यमेव युक्तम्।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वा बुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशंपायनस्येति।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।

गतप्रवास, जब प्रिय विदेश चला गया हो, जैसे मेघदूत में—

हे मेघ, मेरे घर पहुँच कर तुम प्रिया को इस दशा में पाओगे। वह अपनी गोद में या किसी मैले कुचैले कपड़े पर वीणा को रख कर उसके ही द्वारा बनाए हुए मेरे नाम से अङ्कित गीत (पद) को गाने की इच्छा कर रही होगी। पर इसी समय उसे मेरी याद आ गई होगी, इसलिए वह रोने लगी होगी। आँसुओं से गीली वीणा को किसी तरह सँवार कर अपने द्वारा बनाये हुये गीत की मूर्च्छना को बार-बार भूलती हुई, वह तेरे दृष्टिपथ में अवतरित होगी।

कुछ लोग प्रवास के और भी भेद मानते हैं—जैसे आगतपतिका, आगच्छत्पतिका, तथा एष्यत्पतिका। किन्तु ये भेद मानना ठीक नहीं। आगतपतिका तथा आगच्छत्पतिका में प्रवास विप्रयोग का अभाव हो है, क्योंकि संयोग हो चुका है, या हो रहा है। एष्यत्पतिका का समावेश गतप्रवास में हो ही जाता है। अतः प्रवास के तीन भेद मानना ही ठीक जान पड़ता है।

सम्भ्रमजनित प्रवास वह होता है, जहाँ दैवी या मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एक दम एक दूसरे से वियुक्त कर दिये गये हों।

उत्पात, बिजली गिरना, तूफान आना आदि की गड़बड़ी से, या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से, बुद्धिपूर्वक नियोजित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है। जैसे विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा और उर्वशी का वियोग, अथवा जैसे मालती के कपालकुण्डला के द्वारा हर लिए जाने पर मालती तथा माधव का वियोग।

अथवा। 'प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥'

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लस-
त्पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते॥'

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम्।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति॥ ७०॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम्।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च॥ ७१॥

की भी खबर हमें न रही कि कितनी रात गुजर चुकी है। इस तरह रात ही गुजर गई, पर हमारी बातें समाप्त न हुईं।

अथवा, जैसे वहीं—

हे प्रिये, यह क्या है। मैं इस बात का निर्णय ही नहीं कर पाता कि यह तुम्हारा स्पर्श मेरे लिये सुख है या दुःख, यह मोह है या नींद की बेहोशी है। अथवा तुम्हारा स्पर्श होने पर मेरे शरीर में विष का सञ्चार हो रहा है, या कोई नशा फैल रहा है। तुम्हें स्पर्श करने पर, तुम्हारे कर स्पर्श पर, मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जो मेरी इन्द्रियों को निष्क्रिय बना देता है, अन्तस् को जड़ बना देता है, तथा जलन (ताप) उत्पन्न करता है।

अथवा, जैसे धनिक के स्वयं के इस पद्य में—

कोई नायक नायिका की यौवनश्री की वृद्धि का वर्णन करता हुआ चाटूक्ति का प्रयोग कर रहा है। हे कोमल अङ्गों वाली सुन्दरी, हर दिशा में लावण्यरूपी अमृत को बरसाने वाले, तथा कृष्णागुरु की पत्र रचना से काले तेरे स्तन का भार खूब उठा हुआ है, जैसे हर दिशा में अमृत के बरसाने वाले मेघ (आकाश में) उठ आये हों। तेरे स्तनों के भार के उठ जाने पर ये तेरे बालरूपी भौंरे नाकरूपी बांस से अथवा नाक के कारण सुन्दर केतक के समान रङ्ग वाले, भौंहों की पंखुड़ियों से सुशोभित पुष्प की शोभा वाले इस तिलक-तिलक के समान इस तुम्हारे नाक के तिलक पुष्प के रस का जैसे पान कर रहे हैं।

इस सम्भोग शृङ्गार में नायिकाओं में प्रिय के प्रति लीला आदि दस चेष्टाएँ पाई जाती हैं। ये चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं।

इनका विवेचन उदाहरण सहित नायक प्रकाश (द्वितीय प्रकाश) में कर दिया गया है।

नायक को नायिका के साथ कला, क्रीडा आदि साधनों से रमण करना चाहिए। नायक को रमण करते समय उसकी चाटुकारिता करनी चाहिए, तथा कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो ग्राम्य हो या नर्म (शृङ्गार) को नष्ट करने वाला।

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते। यथा रत्नावल्याम्—

'स्पृष्टस्त्वयैव दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन।

उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः॥' इत्यादि।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्य-सम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात्।

अथ वीरः—

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-

मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।

उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-

त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥ ७२॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमति-वितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते = भावकमनोविस्ताराानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः। तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति।

'खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि विकसद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥'

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणां भावात्त्रैधं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

अथ वीभत्सः—

वीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥ ७२ ॥

दानवीर का ही एक उदाहरण देते हैं:—दानवराज बलि से दान लेते समय भगवान् वामन ने अपने शरीर को विराट्रूप में परिवर्तित कर लिया । उनके छोटे-छोटे शरीर के जोड़ों की सन्धियाँ खुल पड़ीं, वे लम्बे होने लगे, उनके बढ़ते हुए वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि चमकने लगी, और उनकी नाभि से निकलते हुए कमल के कुड्मल की कुटी से (वहाँ बैठे हुए ब्रह्मा की) गम्भीर वेदगान की ध्वनि सुनाई देने लगी । अपने अनुकूल दानपात्र को पाकर अत्यधिक उत्सुक दानवराज बलि भगवान् विष्णु के शरीर को आनन्द से देखने लगे । इस तरह बलि के द्वारा आनन्दित होकर देखा हुआ, धीरे-धीरे बढ़ते हुए महत्त्व तथा आश्चर्य वाला मुरदैत्य के शत्रु भगवान् विष्णु का विराट्रूप शरीर आप लोगों की रक्षा करे ।

अथवा जैसे धनिक का स्वयं का पद्य—

वह दानवराज बलि ही था, जिसके आगे जाकर विष्णु भगवान् ने अपने उस हाथ को, जो लक्ष्मी के स्तनों के कुङ्कुम से अरुण हो गया था, भिक्षा का पात्र बनाया ।

विनय आदि के उदाहरण हम धीरोदात्त नायक के पक्ष में दे चुके हैं । पुराने विद्वानों के मतानुसार वीर के प्रताप वीर, गुणवीर, आवर्जन वीर आदि भेद भी होते हैं । युद्धवीर वहीं है, जहाँ आश्रय में प्रस्वेद आना, मुंह का लाल हो जाना, नेत्रों का लाल होना आदि क्रोध के अनुभाव न पाये जायँ । यदि ये अनुभाव पाये जायँगे, तो वहाँ वीर रस न होगा, रौद्र रस होगा ।

कृमि (कीड़े), बुरी दुर्गन्ध, वमन आदि विभावों से, जुगुप्सा स्थायी भाव से उत्पन्न होने वाला वीभत्स उद्वेगी वीभत्स होता है । खून, अँतड़ियाँ, हड्डियाँ, तथा चर्बी व मांस आदि विभावों से क्षोभण वीभत्स उत्पन्न होता है । जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न घृणा से शुद्ध वीभत्स होता है । वीभत्स रस के अनुभाव नाक को टेढ़ा करना, सिकोड़ना आदि हैं, तथा सञ्चारी भाव आवेग, अर्ति, शङ्का, आदि हैं ।

न चायं शान्त एव विरक्तः—यतो बीभत्समानो विरज्यते।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः॥ ७४॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति॥'

वैरिवैकृतादिर्यथा वेणीसंहारे—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः॥

पिण्डों को स्तन मानता है, तथा मांस और हड्डी के उठे हुए हिस्से को जघन। देखा जाय तो रमणियों के कोई अङ्ग सुन्दर नहीं बल्कि मांस, हड्डी आदि कुत्सित पदार्थ हैं।

इस पद्य में वैराग्य शान्त रस ही नहीं है। वस्तुतः यहाँ पर बीभत्स ही है किन्तु वही तो विराग (वैराग्य) का कारण है।

(रौद्र रस)

मत्सर, अथवा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि कारणों (विभावों) से क्रोध उत्पन्न होता है। इसी क्रोध स्थायी भाव का परिपोष रौद्र रस है, जिसका साथी क्षोभ है। शस्त्र को वार-वार चमकाना, बड़ी डींगें मारना, जमीन पर चोट मारना, प्रतिज्ञा करना आदि इसके अनुभाव हैं। रौद्र रस में अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, औग्र्य, वेग आदि सञ्चारी भाव पाये जाते हैं।

मात्सर्य विभाव से उत्पन्न रौद्र, जैसे महावीरचरित के इस पद्य में (परशुराम की उक्ति है।)

अगर तुम ब्रह्मतेज को धारण करने वाले हो, ब्राह्मण हो; अथवा यदि तुम अपनी जाति के व्यवहार के अनुकूल धनुर्धारी बने हो; तो दोनों दशा में मैं तुम्हारे तेज का खण्डन करने में समर्थ हूँ। तुम्हारे तपस्वी ब्राह्मण होने पर; मैं अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा (जलाता हूँ), और तुम धनुर्धारी क्षत्रिय हो तो (दूसरी दशा में) मेरा परशु तुम्हारे उपयुक्त आचरण करेगा। यदि तुम क्षत्रिय हो, तो मैं तुम्हें इस परशु से जीत कर, मौत के घाट उतार दूँगा।

शत्रु के द्वारा कृत अपकार के कारण जनित रौद्र, जैसे वेणीसंहार की भीमसेन की इस उक्ति में—

लाक्षागृह में आग लगा कर, विष का भोजन देकर, तथा सभा में अपमान करके हम पाण्डवों के प्राणों पर, तथा सम्पत्ति पर कौरवों ने अत्यधिक प्रहार किया है। यही नहीं, उन्होंने पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र तथा वालों को भी खींचा है। इस प्रकार हमारा अत्यधिक अपकार करने वाले कौरव, मुझ भीमसेन के जिन्दे रहते कुशल कैसे रह सकते हैं?

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः, परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ५७ ॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्त्रिविधः ।

आत्मस्थो यथा रावणः—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥'

परस्थो यथा—

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना

किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ॥'

स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितम्, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
अपहसितं सास्राक्षम्, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे-मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य, विहसितो-पहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

व्यभिचारारिणश्चास्य—

निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः)

अथाद्भुतः—

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥

होगा ? क्या तुम्हें मदिरा भी प्यारी है ? पर मदिरा तो वेश्याओं के सम्पर्क होने पर ही अच्छी लगती है । वेश्याएँ तो पैसे को प्यार करती हैं, धन के प्रति आसक्त रहती हैं, तुम नङ्गधड़ङ्ग भिखारी के पास पैसा कहाँ से आता है ? पैसा तुम्हारे पास या तो जुए से आ सकता है, या चोरी से, तुम कोई जीविकोपार्जन का कार्य, व्यवसायादि तो करते नहीं । तुम जैसे भिक्षुक को भी चोरी, जुआरी का व्यसन है क्या ? एक बार (समाज तथा आचरण से) नष्ट व्यक्ति के पास दूसरा चारा ही क्या है ?

(इस पद्य में प्रश्नोत्तर को एक ही व्यक्ति का माना जा सकता है, या फिर प्रश्न किसी दूसरे का, और उत्तर भिक्षुक का स्वयं का ।)

यह हास्य तीन प्रकृतियों के अनुसार छः तरह का होता है । स्मित हास्य वह है, जहाँ खाली नेत्र ही विकसित हों । हसित वह है, जहाँ दाँत कुछ कुछ नजर आ जायँ । मधुर स्वर में हँसना विहसित कहलाता है, तथा सिर को हिलाकर हँसना उपहसित होता है । आँखों में आँसू भर आवें, इस तरह हँसना अपहसित होता है, तथा अङ्गों को फेंक कर हँसना अतिहसित कहलाता है । इनमें दो-दो प्रकार के हसित क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं ।

अपने व दूसरे के विकार को देखकर स्मित व हसित होना उत्तम हास्य है, विहसित तथा उपहसित होना मध्यम है, और अपहसित या अतिहसित होना अधम । उदाहरण अपने आप समझे जा सकते हैं ।

इस हास्य रस के व्यभिचारी निम्न हैं—

निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा ये व्यभिचारी भाव हास स्थायी भाव के सहचर हैं ।

(अद्भुत रस)

अलौकिक पदार्थों के दर्शन श्रवणादि से अद्भुत रस उत्पन्न होता है, जो विस्मय नामक स्थायी भाव का परिपोष है । साधुवाद (उस पदार्थ की प्रशंसा करना), आँसू

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥'

यथा च रत्नावल्यां प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि।

यथा च—

'स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः कालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥'

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम्।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः।

भयानक का उदाहरण, जैसे इस पद्य से—

इस शस्त्र को छोड़कर, धीरे-धीरे कुबड़े की तरह दुबक कर, किसी भी तरह यहाँ से जा सको, तो तुम चले जाओ।

अथवा, जैसे रत्नावली में बन्दर के वाजिशाला से छूटने पर अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन—'नष्टं वर्षवरैः' आदि जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका।

अथवा, जैसे इस पद्य में—

तुम्हारी विजययात्रा से चकित बुद्धिवाला शत्रु राजा डरकर घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जङ्गल में, वहाँ से भी घने पेड़ों से घिरे पर्वत पर, तथा पर्वत से गुफा में जाकर छिप गया है। वहाँ भी जाकर वह अपने अङ्गों को अङ्गों में समेट लेने पर भी यह नहीं गिन पाता, यह नहीं सोच पाता, कि तुम्हारे डर से कहाँ छिपे। घर से भागते-भागते पर्वत की गहन गुफा तक पहुँच जाने पर भी उसका भय नहीं मिटा है, वह अभी तक भी तुम्हारे डर से, कि कहीं विजययात्रा में प्रवृत्त तुम्हारी सेना वहाँ भी न पहुँच जाय, छिपने की ही सोचा करता है।

(करुण रस)

इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥'

इत्यादि रतिप्रलापः । अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम् ।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ।

षट्त्रिंशल्लक्षणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणानि 'साम भेदः प्रदानं च' इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥



अथ ग्रन्थोपसंहारः

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



सुन्दर या घृणित, उदार या नीच, उग्र या प्रसन्न, गम्भीर या विकृत, किसी भी ढङ्ग की ऐसी कोई भी वस्तु इस संसार में नहीं है, जिसे कवि की भावना प्राप्त होने पर, वह रस तथा भाव को प्राप्त न हो सके ।

मुञ्जराज की सभा में कुशलता को प्राप्त करने वाले, विष्णु के पुत्र, धनञ्जय ने, पण्डितों के मन को प्रसन्नता व प्रेम से निबद्ध करनेवाले, इस दशरूप को आविष्कृत किया ।

चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः



यं प्रासूत पतिव्रता व्रतयुतं घीसीति नाम्नी मुदा,
तीव्रज्ञाननिधेः शिवोपपदभाग्दत्ताद् द्विजेष्वग्रिमात् ।
भोलाशङ्करनामकेन विदुषा सन्नाट्यशास्त्रे नवा,
व्याख्या श्रीदशरूपकस्य रचिता, विद्वन्मुदे जायताम् ॥
मुखचन्द्रगगननयने (२०११) वर्षे काश्यां च कार्तिके मासि ।
दर्शे दीपावल्यां सैषा पूर्तिं गता व्याख्या ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

